समता के स्वर—ग्रन्थांक १४

प्रवचन-पीयूष

प्रवचनकार—

समता-विभूति आचार्य श्री नानालाल जी म. सा

सम्पादक—

श्री शान्तिचन्द्र मेहता

प्रकाशक—

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, रामपुरिया मार्ग

बीकानेर (राज०)

समता के स्वर—ग्रन्थांक १५

प्रवचन-पीयूष

प्रवचनकार—
समता-विभूति आचार्य श्री नानालाल जी म. सा

सम्पादक—
श्री शान्तिचन्द्र मेहता

प्रकाशक—
श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर (राज०)

प्रकाशक

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, रामपुरिया मार्ग

बीकानेर (राजस्थान)

●

संस्करण—प्रथम १०००

नवम्बर, १९८०

●

मूल्य— ६)७५

●

मुद्रक—जैन आर्ट प्रेस

(श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

समता-भवन, रामपुरिया मार्ग,

बीकानेर (राजस्थान) ३३४००१

४४३०

प्रकाशकीय

परम श्रद्धेय जैनाचार्य श्री नानालाल जी म. सा. श्रमण-परम्परा के उन्नत साधक तो हैं ही, साथ ही जैन-समाज के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र भी हैं। जीवन का श्रीगणेश ही आपने आत्मिक-साधना से किया और सम्पूर्ण साधु-समाज के लिए आप अनुपम आदर्श हैं।

आप वीतराग वाणी के प्रखर प्रवक्ता हैं और आपका एक एक वचन आत्मज्ञान की दृष्टि से सर्वजनहिताय, सवजन-सुखाय के लक्ष्य से युक्त होता है। आचार्य श्री के प्रवचनों की परम विशिष्टता यह है कि उनमे सर्वत्र समता-दर्शन की झलक दिखाई देती है। उत्थान-कामी प्राणियो को यदि सम-वातावरण मिल जाता है तो उनकी साधना-यात्रा भी सरल बनकर समतामय हो जाती है। आधुनिक युग मे इसे दूर-दृष्टि ही कहिए कि विचार एव आचार में समता-साधना की प्रक्रिया पर अधिकाधिक बल दिया जाय।

प्रस्तुत ग्रन्थ में परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. के देशनोक चातुर्मास के प्रवचनो में से चुने हुए २५ प्रवचन प्रस्तुत किये गये हैं, जो श्री शातिचन्द्र जी मेहता द्वारा सम्पादित हैं। एतदर्थ श्री मेहता जी हार्दिक धन्यवाद के पात्र है।

साथ ही ध्यान रखना चाहिए कि इन व्याख्यानों के प्रकाशन या मुद्रण से पूज्य आचार्य श्री जी का कोई सम्बन्ध नही है। अतः इस ग्रन्थ मे कोई भी शब्द या वाक्य सदोष आ गया है अथवा मूलभाव से कही कोई भिन्नता दिखाई देती है तो उसके लिए हम ही उत्तरदायी हैं। पूज्य श्री गुरुदेव का कार्य तो प्रवचन देना मात्र है। उसके सम्पादन, प्रकाशन, एव प्रचार-प्रसार की समस्त व्यवस्था हमारी है, जिसकी भूलो को स्वीकार करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

❁ 'समता के स्वर' ग्रन्थमाला ❁

१.	नव-निधान,	ब्यावर	चातुर्मास	प्रवचन
२.	पावस-प्रवचन भाग १	जयपुर	"	"
३.	पावस-प्रवचन भाग २	"	"	"
४.	" " भाग ३	"	"	"
५.	समता : दर्शन और व्यवहार			
६.	ताप और तप	मन्दसौर	"	"
७.	आध्यात्मिक आलोक,	बीकानेर	"	"
८.	" वैभव	"	"	"
९.	शान्ति के सोपान,	ब्यावर	"	"
१०.	पावस-प्रवचन भाग ४	जयपुर	"	"
११.	" " भाग ५	"	"	"
१२.	प्रेरणा की दिव्य रेखाएं,	देशनोक	"	"
१३.	प्रवचन-पीयूष	"	"	"

अपरिग्रह का चारित्रिक महत्त्व

श्री जिन अजित नमू जयकारी,
तू देवन को देव जी ।

प्रभु अजितनाथ के चरणो मे कवि की भावना व्यक्त हो रही है कि हे अजितनाथ प्रभु, आप देवो के भी देव हैं। आप जानते हैं कि चौरासी लाख योनियो मे एक देव-योनि भी है। देव-योनि मे भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक आदि देव जातियो का विशद् वर्णन आया है। उन देवो के भी जो देव हैं, वे तीर्थंकर देव हैं, जो देवो के लिये भी वन्दनीय हैं, पूजनीय हैं तथा आदर सत्कार करने के योग्य हैं। ऐसे देवो के देव प्रभु अजितनाथ हैं, जिन्हे मैं नमस्कार करता हू ।

नमस्कार की आन्तरिकता

यह नमस्कार देवो के देव के प्रति है, देवो के प्रति नही, क्योकि देव योनि मे रहने वाले देव भी एक प्रकार से सासारिक व्यक्तियो जैसे ही हैं। उनसे कभी सम्पर्क होता है तो सासारिक कार्यों के लिये ही सम्बन्ध जुडता है। नमस्कार की आन्तरिकता तो आत्मा की सम्यक् दृष्टि के साथ जुडी हुई होती है। सम्यक् दृष्टि वाली आत्मा की सर्वोच्च कामना मोक्ष की

प्राप्ति होती है तथा उसकी दृष्टि से नमस्कार सिद्ध देवाधिदेव को ही किया जाता है ।

आत्मा का परम लक्ष्य माना गया है अपने मूल गुणो को विशुद्धतम स्वरूप मे प्रकट करना एव सिद्ध देवाधिदेव की श्रेणी मे स्वय भी पहुच जाना। इस लक्ष्य की ओर गति करने के लिये जिस आदर्श की आवश्यकता होती है, वही आदर्श प्रभु अजितनाथ हैं । वे ससारी आत्माओ के लिये विशिष्ट तेज-पुंज हैं । तेजोमय जीवन के प्रति ही सम्यक् दृष्टि आत्मा का सर्वाधिक आकर्षण होता है उन्ही के प्रति वह अपना सब कुछ समर्पित कर देना चाहती है और नमस्कार उस सर्व-समर्पण का आरभ मात्र होता है ।

विकार-ग्रस्त संसार एवं मोक्षमार्ग .

ससार के प्राणी प्रपचो की स्थितियो मे उलझे रहते हैं तथा विकारो मे फसे रहते हैं । उनके जीवन मे सिद्धान्त एव साधना की परिपूर्णता नही बन पाती है । इस परिपूर्णता के बिना कोई आदर्श नही बन सकता । विकार-ग्रस्त प्राणी अगर विकारी व्यक्ति के सामने पहुँचेगा तो वह यह समझ कर कि वह भी मेरे ही जैसा है, उसके प्रति आदर भाव नही बना सकेगा । आदर भाव उन्ही के प्रति बनता है जो आदर करने वाले की तुलना मे विशिष्ट जीवन वाले होते हैं, अजय आत्मिक शक्ति के धनी बन जाते हैं ।

आत्मा को अजय शक्ति कैसे प्राप्त होगी-इसका स्पष्ट सकेत तीर्थंकरों की वाणी मे मिलता है । तीर्थंकरो की वाणी मौलिक तत्त्व रूप मे एक है । इस वाणी मे ही प्रभु को प्राप्त करने के लिये स्तुति भी चारित्र्य के माध्यम से होती है । मोक्ष प्राप्ति के मार्ग मे भी इसी चारित्र्य को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त है । श्रीमद् उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र मे मोक्षमार्ग का इस सूत्र मे उल्लेख किया है—

सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गं ।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् चारित्र की साधना से मोक्ष की मजिल तक पहुँचा जा सकता है । इस चारित्र-स्वरूप आत्मा का जहा मूल स्वरूप प्रकट होता है, वहा उसकी पृष्ठ-भूमिका चारित्र-दर्शन होता है । सच्चारित्र के विकास रूप मे आत्मा के विकार दूर होते है तो दुश्चारित्र्य के आने पर आत्मा विकारो के दल-दल मे फसती जाती है । ससार के अन्दर जो आत्माए अधोगति की ओर जा रही हैं, वे भी चारित्रवान् है, लेकिन उनका चारित्र्य दुश्चारित्र्य है । इस दुश्चारित्र्य को जीवन से दूर हटाकर सद्-

चारित्र्य प्रकट करना भव्य आत्माओ का काम है । भव्य आत्माए जब मोक्ष मार्ग पर अग्रसर बनती हैं, तब भव्य चारित्र्य का निर्माण होता है ।

सच्चारित्र्य का पांचवां स्तम्भ :

इस चारित्र्य रूपी आत्मा के स्वभाव का वर्णन आपके सामने शास्त्रीय गाथा के अनुसार वर्णित किया जा रहा है । आत्मा का लक्षण चारित्र भी माना गया है । इस शास्त्रीय गाथा मे आत्मा के सच्चारित्र के जो स्तंभ–समान गुण बतलाये गये हैं, उनमे पाचवा स्तभ–स्वरूप जो गुण बताया गया है, वह है अपरिग्रह ।

परिग्रह की स्थिति ससार के सामने विचित्र ढग से आती है । परिग्रह की कई तरह से व्याख्या की जाती है । पहले शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से परिग्रह को समझने की चेष्टा करें ।

"परि गृह्यते इति परिग्रह । जो चारो ओर से ग्रहण किया जाय—इसे परिग्रह कहते हैं । 'चारो ओर से' का क्या तात्पर्य लिया जाय ? 'चारो ओर से' का तात्पर्य है आत्मा के समस्त प्रदेशो से । सब प्रदेश कर्म को ग्रहण करते हैं, वे भी शब्द–व्युत्पत्ति की दृष्टि से परिग्रह की परिभाषा मे आ सकते हैं ।

आत्मा शरीर ग्रहण करती है—शरीर ग्रहण करने के कारण भोजन ग्रहण करती है अथवा शरीर से सम्बन्धित अन्य पदार्थों को भी ग्रहण करती है । शरीर से सम्बन्धित जितने भी ससार के पदार्थ हैं और जब वे ग्रहण किये जाते हैं तो वे परिग्रह की कोटि मे आ जाते हैं । परिग्रह से विमुख होने मे अपरिग्रह का विकास होता है ।

परिग्रही क्यो . निष्परिग्रही कैसे ?

परिग्रह शब्द का अर्थ सिर्फ व्युत्पत्ति की स्थिति से ही लिया जाता हो तथा दूसरे तरीको से नही लिया जाता हो–ऐसी बात नही है । कभी–कभी शास्त्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी शब्द का अर्थ करते हैं तो कभी परिभा–षिक रूप से भी अर्थ का स्पष्टीकरण किया जाता है । परिग्रह के सदर्भ मे ही देखें तो व्युत्पत्ति से अर्थ लेने पर कोई भी आत्मा चौदहवें गुण स्थान तक पहुच कर भी शरीर धारण की दृष्टि से निष्परिग्रही नही बन सकती है क्योंकि जहा तेरहवें गुणस्थान मे केवली भगवान् विराजमान हैं, वे भी कर्मों को ग्रहण करते हैं –अधिक नही तो साता वेदनीय कर्मों को तो एक क्षण के लिये ग्रहण करते ही हैं । शरीर उस समय तक बना रहता है तो वे भोजन भी ग्रहण करते हैं । व्युत्पत्ति की एकान्त दृष्टि से कहें तो वहा भी परिग्रह

की परिभाषा लागू होती है, जब कि वे परिग्रह को छोडते है। इसलिये शास्त्रकार सिद्धान्तो या लक्षणो का पारिभाषिक अर्थ भी स्पष्ट करते हैं।

पारिभाषिक दृष्टि से 'मुच्छा परिग्गहो' कह कर मूर्छा—ममता को परिग्रह बताया गया है। मूर्छा या ममता को परिग्रह मानते हैं तो छठे गुण–स्थान से ऊपर की आत्माए भी निष्परिग्रही कहला सकती हैं। सयमी और साधक आत्माए शरीर ग्रहण करें, नियमित भोजन ग्रहण करें, लज्जा ढंकने के लिये वस्त्र ग्रहण करें अथवा सयमित निर्वहन के लिये पात्रादि ग्रहण करें तो वह परिग्रह की परिभाषा मे नही आवेगा। साधु के लिये तीन तरह के पात्र बताये हैं—मिट्टी, तुम्बी व काष्ठ के। साधु इन पात्रो को ग्रहण करता हुआ भी उन पर मूर्छा नही रखता है तो वह निष्परिग्रही की स्थिति मे पहुन्न जाता है। बाहर के इन सारे संयमी साधनो को ग्रहण करता हुआ भी वह मूर्छा-रहित होने से निष्परिग्रही कहलाता है। इस दृष्टि से पाचवें गुण स्थान तक तो परिग्रह की स्थिति रहती है, किन्तु छठे गुण स्थान मे अपरिग्रही की स्थिति आ जाती है।

परिग्रह : भावना की तुला पर

मूर्छा को जो परिग्रह बताया गया है, उसकी मूल पृष्ठभूमि भावना से जुडी हुई है। परिग्रह एक प्रकार से पदार्थ रूप है तो मूर्छा की दृष्टि से भावना रूप है। समझने की बात यह है कि पदार्थ एव भावना मे प्रधानता किस की है ? कल्पना करें कि एक व्यक्ति के पास पदार्थ रूप परिग्रह अमित मात्रा मे है, किन्तु उस पर उसकी मूर्छा नही है। दूसरा व्यक्ति ऐसा है जिसके पास पदार्थ रूप परिग्रह कम है किन्तु उस पर उसकी मूर्छा अधिक है तथा अधिक पदार्थ पाने की लालसा तीव्र है तो दोनो व्यक्तियो मे अधिक परिग्रही किसे कहेगे ?

आत्मा का विकास या पतन मुख्यत भावना पर आधारित माना गया है। भावना ही कार्य का कारण होती है। जैसी भावना, वैसा काम। भावना से ही मनुष्य कभी क्षणो मे अपना सर्वोच्च विकास साध लेता है तो भावना की दलितावस्था मे वह पतन के गहरे गढे मे गिर जाता है। अतः परिग्रह मे आत्मा की सलग्नता को भी भावना की तुला पर तौलना पडता है। इस दृष्टि से पहले व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति अधिक परिग्रही माना जायगा, क्योकि परिग्रह की लालसा मे उसकी भावना बहुत ही चिकनी होती है। वास्तव मे भावना के कोण से ही परिग्रह के घनत्त्व का मापदड बाधा जाता है।

आसक्ति के धरातल पर : परिग्रहत्व का निर्णय

कभी-कभी भ्रांतिवश कोई सोच लेता है कि ससारी आत्माओ के अलावा यदि साधु भी ग्रहण करता है तो वह भी परिग्रही होता है। किन्तु ऐसा सोचना शास्त्रीय दृष्टि से गलत है। आत्मा के अतिरिक्त संयमी जीवन के सहायक उपकरण भी ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु ममता रहित होने की दृष्टि से साधु जीवन की स्थिति निष्परिग्रही कही जा सकती है। गृहस्थ अवस्था मे रहने वाले व्यक्ति को वैसी स्थिति प्राप्त नही होती है। कारण, गृहस्थ अवस्था मे रहने वाला व्यक्ति अपने जीवन-निर्वहन के अतिरिक्त भी ग्रहण की अवस्था एव क्षमता मे होता है। दूसरे, गृहस्थ जीवन मे कई तरह की जिम्मेदारिया होती हैं। एक गृहस्थ के ऊपर स्वय की जिम्मेदारी के अलावा अपने अपने स्तर से परिवार, समाज, राष्ट्र आदि की विविध जिम्मेदारिया भी होती हैं। इन परिस्थितियो एव जिम्मेदारियो मे गृहस्थ के पास परिग्रह की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। परिग्रह या परिग्रही भावना के अस्तित्व में परिग्रह की आसक्ति से मुक्त हो पाना एक प्रकार से असभव ही माना जायगा।

मूल रूप मे परिग्रह के प्रति आसक्ति ही परिग्रही वृत्ति का निर्णय करती है। गृहस्थ जीवन मे यह आसक्ति न्यूनाधिक अशो मे अवश्य बनी रहती है क्योकि आसक्ति के समूल विनाश पर आत्मा साधु जीवन को अपना लेती है। गृहस्थ जीवन मे आसक्ति का कम ज्यादा होना व्यक्ति की ममत्व भावना पर निर्भर करता है। एक व्यक्ति गृहस्थ अवस्था मे रहता हुआ धन, धान्य, स्वर्ण आदि रखता है, लेकिन उन्हे रखता हुआ भी उनमे आसक्त नही बनता है—मूर्छा भावना नही रखता है तो उसके परिग्रह की स्थिति कमजोर बन जाती है, किन्तु वह सर्वथा निष्परिग्रही नही हो सकता है। कभी यह सोचा जाय कि गृहस्थाश्रम मे रहता हुआ व्यक्ति सर्वथा निष्परिग्रही हो जाय, यह कठिन है। उस जीवन मे यदि ऐसी उच्च भावना स्थायी रूप ले ले तो वह गृहस्थ नही रहेगा। अनासक्ति की अवस्था साधु जीवन मे ही स्थायी रूप से टिक सकती है।

भरत महाराज : आसक्ति से अनासक्ति की ओर

भरत महाराज का जीवन इस सदर्भ मे सामने आता है। कहते हैं कि भरत महाराज छ खड का राज्य-भार वहन करते हुए भी निष्परिग्रही थे। उनकी आत्मा के साथ परिग्रह का भावनात्मक सम्बन्ध नही था। यह कथन सीमा से थोडा परे का है। यह कह सकते हैं कि अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा से वे परिगह से अधिक निर्लिप्त थे। उनकी पदार्थो के प्रति अत्यधिक

आसक्ति नही थी । वे सर्वथा अनासक्त थे, यह कहना योग्य नही क्योंकि जिस समय उनकी आसक्ति पूर्ण रूप से हटी तो फिर वे राज्य या गृहस्थी मे नही रहे । वह प्रसग आया जब मुद्रिका उनकी अगुली से नीचे गिर पडी, तब उनकी भावना आसक्ति से अनासक्ति की ओर प्रवाहित हुई तथा बडी तेजी से प्रवाहित हुई ।

उन्होने जब बिना अंगूठी के अपनी अगुली को देखा तो अगूठी से उनकी आसक्ति हटी । फिर वे एक-एक आभूषण और मूल्यवान वस्त्र उतारते चले गये । अनासक्त भावना उनकी आत्मा मे इतनी तेजी और इतनी गहराई से उमडी कि चन्द क्षणो मे ही वे परिपूर्ण एव स्थायी रूप से निष्परिग्रही बन गये । अपरिग्रही भावना के कारण वे तुरन्त चौथे से सातवें गुण स्थान मे पहुच गये । फिर भावना का प्रवाह ऊची से ऊची श्रेणी मे इस तरह चढता गया कि वे सात, आठ, नौ, दस, एव बारह गुण स्थानो की सीढिया पार करते हुए अन्तर्मुहूर्त समय मे तेरहवें गुणस्थान मे पहुंच कर केवलज्ञानी बन गये । उनका सर्वथा निस्तार हो गया । तब शरीर की स्थिति रही तथा चार घाती कर्म भी रहे, पर वे जली हुई रस्सी की तरह रहे । पूर्ण अनासक्ति की अवस्था मे वे फिर राज भवन मे नही बैठे रहे । जिस प्रकार की आन्तरिक भावना बनती है, उसी प्रकार का जीवन क्रम भी आवश्यक हो जाता है । भरत महाराज भी तब राज्य छोडकर केवली परिषद् मे सम्मिलित हो गये ।

अपरिग्रह आत्मिक स्वभाव के साथ :

अपरिग्रह आत्मिक स्वभाव के साथ सम्बन्धित होता है । जितनी अधिक आसक्ति, उतना ही अधिक परिग्रह एव उतनी ही आत्मा अपने स्वभाव से दूर हटती है । अनासक्ति की भावना जितनी गाढी बनेगी, आत्मा का अपरिग्रह का चारित्रिक लक्षण उतना ही अधिक उज्ज्वल रूप मे निखरता चला जायगा । परिग्रह के प्रति मूर्छा भावना जब क्षीण होती है तो वहा सिर्फ शरीर के निर्वहन के लिये ही अन्न, जल, वस्त्रादि पदार्थों को ग्रहण किया जाता है । एक प्रकार से मूर्छा भावना पर-पदार्थ मे आसक्ति है तथा इसी आसक्ति मे लोभ पैदा होता है । लोभ को पाप का मूल बताया गया है । अत सब पापो का मूल मूर्छामय परिग्रह को कहा जा सकता है ।

अपरिग्रह की ओर आगे बढाने का ही सिद्धान्त है ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त । प्राप्त परिग्रह का मैं ट्रस्टी मात्र हूँ—इस भावना मे यदि मनुष्य अपने जीवन -व्यवहार मे चले तो उसकी परिग्रह के प्रति मूर्छा भावना घट सकती है । किन्तु मूर्छा भावना का सफल विनाश तो परिग्रह के परिपूर्ण त्याग मे ही

सभव हो सकेगा । तभी पूर्ण आत्मशुद्धि होगी एव आत्मा पूर्णत अपरिग्रही वनेगी । आत्मिक स्वभाव के निखार के साथ ही अपरिग्रही वृत्ति का भी विकास होता जाता है ।

परिग्रह का त्याग लालसाओ का त्याग होना चाहिये

कभी-कभी इस परिग्रह की स्थिति का परित्याग कुछ विचित्र रूप मे उपस्थित होता है । एक व्यक्ति अपने पास के परिग्रह का त्याग करके दान देता है, मगर दान देने के पीछे उसकी यह भावना रहती है कि उस की नामवरी होगी तो क्या वह दान अपरिग्रह की स्थिति का निर्माण करता है ? सचय की लालसा को तोडकर दान दिया, किन्तु उसके साथ ही कीर्ति की लालसा वना ली तो फिर परिग्रह कहा छूटा ? मूर्छा का निवास लालसा मे रहता है, अत लालसाओ का त्याग हो तभी वहा परिग्रह का त्याग माना जायगा । यदि दान देने वाला व्यक्ति कीर्ति की लालसा को भी अपने मन मे पैदा नही होने देता है तो उसका परिग्रह का त्याग सच्चा त्याग कहलायगा, फिर उसे उसका यश मिले, वह दूसरी बात होगी । उसका मन धन या यश दोनो की ममता से परे हट जायगा ।

लालसाओ का, मूर्छा एव ममता का अन्त ही अपरिग्रहवाद है । यह ममता का ही चिह्न है कि जव तक किसी के पास स्थूल परिग्रह की मात्रा नही वढती, तव तक पारस्परिक आत्मीयता की भावनाए स्वस्थ रूप मे कार्यरत वनी रहती है, लेकिन परिग्रह का अधिक सचय उन स्वस्थ सम्वन्धो को तोड देता है । इससे यही प्रमाणित होता है कि मानव-मन की तह मे परिग्रह के प्रति ममत्व सव से अधिक प्रबल होता है ।

खून के रिश्ते और सबसे बड़ा रुपैया

आपके सासारिक जीवन एव व्यवहार पर परिग्रह कितने घनत्व के साथ छाया हुआ है कि खून के रिश्तो से भी ऊपर सवसे वडा रुपैया वना हुआ है । मा, वहिन, पत्नी सभी अपने वेटे, भाई, पति से भी पहले रुपया चाहते हैं— यह कैसी क्लिष्ट परिग्रही स्थिति है ?

एक दृष्टान्त याद आ गया है । एक ही माता की कुक्षि से जन्म लेने वाले दो भाई थे । घर मे गरीवी थी, अत आत्मीयतापूर्ण वातावरण था । गरीवी से तग आकर दोनो भाई कमाने के लिये परदेश चले । वहा उन्होंने अच्छी कमाई की तथा रुपयो की एक एक नोली (थैली) भरकर अपनी-अपनी कमर से वाधी और वापिस अपने गाव के लिये चल दिये । रास्ते मे विश्राम एव भोजन के लिये दोनो एक वृक्ष के नीचे ठहरे । एक भाई ने कहा कि मैं पास के गाव से खाने की चीजें ले आता हू, तव तक तुम मेरी थैली की भी निगरानी करना । अविश्वास का प्रश्न ही नही था । गाव की तरफ जाते-जाते

उस भाई के मन मे आसक्ति भाव ने बल पकडा । उसने सोचा कि मैं जहर मिलाकर मिठाई लाऊ और भाई को खिलाऊ तो दोनो थैलिया मुझे मिल जायेगी । वृक्ष के नीचे बैठे भाई ने सोचा कि ज्यो ही दूसरा भाई खाने की चीजें लेकर आवे, उस पर घातक वार कर दू ताकि दोनो थैलिया मेरी हो जाएगी । परिग्रह का मोह ऐसा ही विकारी होता है ।

गाव से एक भाई जहर मिली मिठाई ले आया और दूसरा वार की ताक मे रहा । वार करने वाला निशाना चूक गया तो वह वडा शर्मिन्दा हुआ तब दूसरे भाई ने भी अपना पाप खोल दिया । दोनो विचार करने लगे कि ऐसा विकार पैसे के कारण आया है । ऐसा सोचकर दोनो ने रुपये की थैलिया नदी मे फैक दी और खाली हाथ घर लौट गये । परदेश से वडे दिनो मे पहुचे थे सो उनके आगत-स्वागत मे मा व बहिन जुट गई । बाजार से दो बडी मछलिया लाई गई क्योकि वे मछली का खाना अच्छा समझते थे । मछलियो को चीरा गया तो दोनो के पेट से दो रुपयो की थैलिया निकली । बहिन ने चुपचाप उन्हे छिपाना चाहा मगर मा को आहट हो गई । दोनो लडने लगी और आवेश-आवेश मे मा ने वेटी के मुह मे जलती लकडी खोस दी तो वेटी ने मा के पेट मे छुरी भौक दी । दोनो मर गई । तभी दोनो भाई बाजार से आये तो इस दृश्य को देखकर हक्के-वक्के रह गये । तुरन्त ही मामला उनकी समझ मे आ गया । वे सोचने लगे कि रुपयो से उनकी तो जान वच गई परन्तु उनकी मा और वहिन की जान चली ही गई । परिग्रह का ममत्व कितना हृदयहीन एव क्रूर हो जाता है !

सम्पूर्ण अपरिग्रह से ही आत्मिक चारित्र्य की उन्नति

परिग्रह पाप का मूल है, अत जितने अशो मे परिग्रह के प्रति ममता की परित्याग किया जायगा, उतनी ही निष्परिग्रही वृत्ति पनपती जायगी । इस लिये भगवान् ने कहा कि सम्पूर्ण अपरिग्रह से ही आत्मिक चारित्र्य की उन्नति हो सकेगी, अत जो साधु सन्त गृहस्थाश्रम छोडकर निष्परिग्रही वनते है, उन्हे परिग्रह के प्रपचो से सर्वथा दूर हो जाना चाहिये । चाहे कोई कितना ही उकसावा दे कि महाराज, यह धर्म कार्य है, चन्दा चिट्ठा करा दो, तव भी साधु को अपना तटस्थ भाव वनाये रखना चाहिये । यदि साधु भी ऐसे प्रपचो मे पडने लगे तो धीरे धीरे वे भी परिग्रही होने लगेंगे एव निर्ग्रंथ साधुत्व कलकित हो जायगा ।

अपरिग्रह की भावना तभी जन्म लेगी जब सन्त-परम्परा के अनुसार केवल शरीर के सयमी निर्वाह की दृष्टि मे ही पदार्थो का ग्रहण किया जायगा । परिग्रह से लिप्त नही होगे तो क्रूर कर्म नही करेगे और अपरिग्रह की भावना जीवन मे समा जाने के बाद आत्मिक चारित्र्य समुन्नत बन जायगा । ★

सबको अपने समान जानो !

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो .. .

ज्ञानावरणीय हो, दर्शनावरणीय हो, अन्तराय कियो अन्त ।
ज्ञान दर्शन वल ये तिहू हो, प्रकट्या अनन्तानन्त ॥

प्रभु के चरणो मे वन्दन का फल अनन्त आत्मिक शक्तियो की उपलब्धि के रूप मे वताया गया है । जव शुद्ध अन्त करणपूर्वक कर्म मैल को धोने का लक्ष्य वनाकर वन्दन किया जाता है तो वैसे वन्दन के फलस्वरूप आत्म-शक्तियो को ढके हुए घने वादलो के समान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एव अन्तराय कर्मों का आवरण छिन्न-भिन्न होने लगता है तथा अनन्त-अनन्त आत्मिक शक्तियो का विकास एव प्रारम्भ हो जाता है ।

सच्चे ज्ञान को दवाने वाले ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय कर्म

ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय ये दोनो कर्म आत्मा को सच्चा ज्ञान नही होने देते । इन दोनो कर्मो के वन्धन का कारण एक ही है, किन्तु फल कुछ विलग सा होता है । ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के विशेष ज्ञान को आच्छादित करता है तो दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के सामान्य ज्ञान को दवा देता है ।

किसी भी परिस्थिति मे पहले सामान्य ज्ञान होता है और फिर उसी से सम्वन्धित विशिष्ट ज्ञान की अनुभूति होती है । एक मनुष्य है, यह सामान्य

ज्ञान है । फिर वह मनुष्य मेवाडी है, मारवाडी है या गुजराती है—ऐसा ज्ञान होना उसके सम्बन्ध मे विशेष ज्ञान कहलायेगा । इसी प्रकार एक आत्मा है, यह सामान्य ज्ञान है । "एग्गे आया" की दृष्टि से समग्र आत्मा को सामान्य रूप से एक ही आत्मा के रूप मे ले लिया लेकिन विशेष ज्ञान की दृष्टि से आत्मा अनन्त है या आत्मा कर्मों से युक्त अथवा मुक्त है ।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अथवा तत्त्व का स्वरूप सामान्य अथवा विशेष दृष्टि से उसी परिणाम मे जाना जा सकता है, जिस परिणाम मे ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय कर्मों का क्षयोपशम किया जाता है । ये कर्म जब तक अपने प्रबल रूप मे आत्मा के साथ मे सलग्न रहते है, तब तक ये सच्चे ज्ञान को दबाये हुए रहते हैं । ससार के सर्व प्राणियो के प्रति कैसा व्यवहार किया जाना चाहिये तथा वास्तविक दृष्टि से उनको किस रूप मे देखना चाहिये, यह सामान्य अथवा विशिष्ट ज्ञान भी वैसी अवस्था मे दबा हुआ रहता है जिसके कारण अपनी चारित्रिक शक्तियो को सही दिशा मे प्रकट करने से भी आत्मा वचित रह जाती है । 'सबको अपने समान जानो' की स्थिति भी इन कर्मों की प्रबलता मे आत्मा के सामने स्पष्ट नही होती है । अत. सबको अपने समान जानकर उसके अनुसार अपना व्यवहार बनाने का अवसर ही उपस्थित नही होता । इस मूल स्थिति को समझ कर सबसे पहले इन कर्मों के क्षय-उपशम की ओर आत्मा का पराक्रम प्रस्फुटित होना चाहिये ।

सामान्य एवं विशेष ज्ञान की स्थितियां

आत्मा के साथ सलग्न होने वाले समस्त कर्मों की आठ श्रेणियां मानी गई हैं । उनके क्रमिक क्षय या उपशम की दृष्टि से ही गुणस्थान के स्तर नियत किये हुए हैं । इन सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा करने पर ही आत्मा मोक्ष की अधिकारिणी बनती है । अमुक गुणस्थान पर आत्मा की अमुक अवस्था बनती है यह विशेष ज्ञान है । सामान्य ज्ञान मे वस्तु-स्वरूप का निर्णय नही होता है । विशेष ज्ञान से ही समग्र रूप से वस्तु को जानते हैं । ससार सागर को पार करने के लिये विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है । विशेष ज्ञान के विना आत्मा सत्य एव असत्य का निर्णय नही कर पाती है । इस दृष्टि से केवल ज्ञान को सर्वोच्च विशेष ज्ञान माना गया है तथा केवल दर्शन को सर्वोच्च सामान्य ज्ञान-जिनकी प्राप्ति ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से होती है । केवलज्ञान से ही सिद्ध एव सासारिक स्वरूपों को पूर्णत जाना जा सकता है, जिसके अभाव मे आत्मा समग्र पदार्थ एव तत्त्वो को सम्पूर्णत नही जान पाती है ।

केवल ज्ञान की अवस्था परिपूर्ण अवस्था होती है । इस ज्ञान की मूल शक्ति आत्मा के भीतर रही हुई है—वह ज्ञान दवा हुआ है । केवलज्ञान पास मे होते हुए भी विशेप रूप से मनुष्य जो ज्ञान नही पाता हैं - यही इन दोनो कर्मो का आवरण है । सूर्य पर वादलो के समान ये कर्म उसे आच्छादित किये हुए हैं । इसीलिये आचाराग सूत्र मे महावीर प्रभु ने स्पष्ट कहा है—

पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि ।
दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमसि ।।
एवमेगेसि णो णाय भवई ।

ज्ञानावरणीय कर्म से जिस आत्मा पर सघन पर्दा पडा हुआ है, वह जीव यह नही जानता कि मैं पूर्वभव मे किस गति मे था और यहा पर कहा से आया हू । यह आत्मा क्या कभी इस वात का चिन्तन करती है कि वह पूर्व दिशा से आई है या पश्चिम दिशा से अथवा उत्तर दिशा से आई है या दक्षिण दिशा से ? दिशा सम्बन्धी इतना सा ज्ञान भी इस आत्मा को नही है । शास्त्रो मे इन स्थूल दिशाओ का ही उल्लेख नही है वल्कि प्रज्ञा एव भाव दिशाओं का भी उल्लेख है तथा आत्मा के सदर्भ मे भाव दिशाओ का ही विचार किया जाता है । जब भाव दिशाओ की दृष्टि से चिन्तन किया जाता है, तब ज्ञान की गहराइयां प्राप्त होती हैं ।

आत्मचिन्तन से ज्ञान-लाभ

आत्मा के लिये भाव-दिशाए इस प्रकार हैं कि वह किस योनि से आई है । वह पानी, पृथ्वी, अग्नि या वनस्पति से आई है अथवा अन्य योनि से ? भाव दिशाओ के सम्बन्ध मे आत्मचिन्तन चलता है, तव विचारधारा उठती है कि ऐसी-ऐसी योनियो से निकल कर आत्मा को जो यह मनुष्य जीवन मिला है, वह मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्म भूमि है । इस जीवन मे आत्मा अपने पुरुषार्थ द्वारा ज्ञानावरणीय आदि कर्मो को क्षीण करते हुए ज्ञान दर्शन एव चारित्र्य की सफल आराधना कर सकती है ।

यह आत्मचिन्तन जितनी गहराई तक पहुचेगा, उतना ही ज्ञान लाभ इस आत्मा को होता जायगा । मानव जीवन की कर्मभूमि मे आकर यह आत्मा मोक्ष की करणी कर सकती है, तीर्थंकर गोत्र बाध सकती है तथा चक्रवर्ती बनने की पृष्ठभूमि तैयार कर सकती है । असि, मसि एव कृषि के क्षेत्रो मे सफलता प्राप्त करती हुई यह आत्मा उग्र धर्म करणी का प्रसग भी उपस्थित कर सकती है ।

आत्मशक्ति की इस गूढता को सबसे पहले जानने की आवश्यकता है और यह जानना ही मनुष्य को करने की दिशा मे प्रेरित कर सकेगा। मोक्ष मार्ग के तीन साधनो मे इसी दृष्टि से ज्ञान एव दर्शन को चारित्र्य से पहले स्थान दिया गया है। जानो, मानो एव करो ये तीन अग हैं और इनके साथ 'सम्यक्' शब्द जुडा हुआ है। सच्चा ज्ञान ही सच्ची श्रद्धा एव सच्चे आचरण का कारणभूत बन सकेगा। सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के बाह्य साधन अवश्य ही उपदेश श्रवण, चर्चा, अध्ययन आदि हैं, किन्तु चिन्तन-मनन का आन्तरिक साधन मुख्य माना गया है, जिसके बल पर मनुष्य अपने अन्तःकरण के अन्दर आलोक का अनुभव करता है। आत्मा का आन्तरिक स्वरूप जब ज्ञान के आलोक से आलोकित हो उठता है, तब उस का भीतर बाहर सब ज्ञानमय हो जाता है। अपने भीतर झाकने, समझने एव सुधरने की प्रक्रिया का नाम ही आत्मचिन्तन है। यह चिन्तन ज्ञान की गहराइयो को छूता है तो आन्तरिक चारित्र्य-शक्ति को उद्घाटित करता है। सम्यक् ज्ञान एव दर्शन के आत्मा मे समा जाने पर ही सत्पुरुषार्थ का क्रम बैठता है तथा आत्मा की दबी हुई अनन्त अनन्त शक्तिया प्रकट होने लगती है।

"आत्मवत् सर्वभूतेषु" का ज्ञान

आत्मा जब अपने स्वरूप पर चिन्तन करती है तो वह सभी आत्माओं के स्वरूप पर भी चिन्तन करती है। चिन्तन की उस धारा मे आत्मा को यह अनुभूति होती है कि मूल रूप मे सभी आत्माए समान हैं और सब मे समान शक्ति रही हुई है। अन्तर है तो इस बात का कि उन आत्माओ मे अपनी मूल शक्तियो का प्रकटीकरण न्यूनाधिक अशो मे दिखाई देता है। इस प्रकार के मूलभूत चिन्तन के आधार पर यह धारणा बनती है कि ससार के समस्त प्राणी हमारी अपनी आत्मा के ही समान हैं। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का ज्ञान एक प्रकार से ज्ञान की पहली सीढी है। 'सबको अपने समान जानो' की धारणा ज्यो-ज्यो मजबूत बनती जाती है, मनुष्य का व्यवहार एव आचरण स्वत ही उत्थान की दिशा मे मुडता जाता है।

'सबको अपने समान जानो'—की आन्तरिक अनुभूति आत्मा मे कोमलता का सचार करती है। वह क्रूर भावो से दूर होती है तथा सहानुभूति के विचारो से ओत-प्रोत बन जाती है। जब विचार एवं व्यवहार मे सम-रसता पैदा होती है, तभी समता-भावना का विकास होता है। सबको अपने समान जानना, यह समता का ज्ञान पक्ष है तो सबके साथ अपने को सुखकर लगे वैसा ही व्यवहार करना, यह समता का आचरण पक्ष कहलायेगा।

मानव-जीवन समता से ओतप्रोत

समता की साधना मानव अन्य प्राणियो के मास
सभी प्राणियो के प्रति समता व नही होते तो ये
भाव एव सहयोग का वातावरण रचेगा
क्षेत्र मे सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने का
बीच समता सूत्र स्थापित हो जाय तो सस।
भारी परिवर्तन आ जायगा, वल्कि यो कहें
रूप से ससार का सचालन केन्द्र वन जायगा

समता की साधना करनी है तो सम ...गृत करना होगा । आत्मचिन्तन करना होगा कि यह मे ...मा किस दिशा से आई है और मेरे क्या करने से यह उच्च दिशा मे जायेगी अथवा मेरे क्या नहीं करने से प्राप्त मानव जीवन निरर्थक हो जायगा ? यह आत्म-चिन्तन ही आत्म ज्ञान के आवरणो को ऊपर उठायेगा । आत्म-ज्ञान के प्रकाश में समता की स्थिति स्पष्ट वन जायगी एव यह आत्म-जागरण जन्म ले सकेगी कि सभी प्राणियो के साथ आत्म-समता कैसे स्थापित की जा सकती है ?

जिन आत्माओ के अन्तरतम मे इस प्रकार की समता का ज्ञान नहीं जागता है, वे विपम भावो से स्वय ही पीडित नही होती, वल्कि अन्य आत्माओ को भी विपमता से पीडित वनाती हुई दुखकर स्थितियो का निर्माण करती रहती हैं । ऐसी आत्माओ को सच्चा दिशा-वोध देना भी प्रवुद्ध आत्मा का आत्मिक कर्त्तव्य होता है ।

श्रेणिक एवं अभयकुमार का प्रसंग तथा समता का दिशावोध

एक वार मगध सम्राट श्रेणिक अपनी राजसभा मे बैठे हुए थे । सभा मे सभी सामन्त व अधिकारी उपस्थित थे । प्राचीन काल मे चाहें राज-सभा हो या जनगोष्ठिया जव भी अवसर मिलता, प्रमुख रूप से वहा ज्ञान चर्चा होती थी । ऐसी ही ज्ञान चर्चा के प्रसग मे राजा श्रेणिक अपने सभा-सदो से वोले—आप लोग विद्वान्, वुद्धिशाली एव अनुभवी हैं, अत आप लोगो के सामने मैं एक प्रश्न रख रहा हू, जिस का उत्तर सोच समझ कर दीजिये । मेरा प्रश्न यह है कि सवसे सस्ता खाद्य पदार्थ कौनसा है ?

सभी ने सम्राट के प्रश्न को सुना व सोचा कि इतना साधारण प्रश्न है और उसका उत्तर देने मे भला क्या कठिनाई है ? सभी लोग अपना-अपना दिमाग दौडाने लगे । उनमे से एक सामन्त ने चिन्तन किया कि अनाज तो

आत्मशक्ति कीआ है किन्तु मांस सबसे सस्ता पडता है। कारण है और यह जानना ;नवर पर बाण चलाओ और उसे काट डालो–मांस मोक्ष मार्ग के ;न विशेष श्रम एव न व्यय। यह सोचकर वह खडा हुआ पहले स्थाच्दन किया–महाराज, मेरी राय मे सबसे सस्ता खाद्य–पदार्थ साथ, है। कई समन्तो ने तत्काल उसकी राय का समर्थन कर दिया।

श्रेणिक महाराज तब अपने विशिष्ट बुद्धिशाली प्रधान अभयकुमार की तरफ मुडे और बोले—प्रधान जी, मेरे प्रश्न पर करीब करीब सभी सामन्तों ने अपनी अपनी राय जाहिर की है, किन्तु तुमने अपनी सम्मति प्रकट नही की, ऐसा क्यों?

प्रधान अभयकुमार सारे राजकाज का कुशलतापूर्वक संचालन करते थे किन्तु इस कार्य मे भी वे कुशल थे कि राज्य चलाते हुए भी प्रजा जन मे किस प्रकार धार्मिक सस्कारो को ढालना तथा आध्यात्मिक विज्ञान का प्रसार करना चाहिये। समता के वे अनन्य उपासक थे, अत प्रश्न का जो उत्तर सामने आया था, उससे उनके मन को चोट पहुचीं थी। वे चाहते थे कि उस प्रश्न का ऐसा उत्तर व्यावहारिक विधि से दिया जाय कि समस्त प्राणियो के प्रति समता का सिद्धान्त स्पष्ट बन सके। उन्होने नम्रतापूर्वक महाराज से निवेदन किया कि उनके प्रश्न का उत्तर वे कल देंगे।

अब सभी ओर उत्सुकता बढ गई कि बुद्धि के धनी अभयकुमार उस प्रश्न का किस रूप मे उत्तर देगें?

जब कुछ रात ढल आई तो अभयकुमार अपनी आकृति को अतीव चिन्तातुर बना कर पहले उसी सामन्त के घर पर गये जिसने सबसे सस्ता खाद्य मास को बताया था। बडी घबराहट के साथ अभयकुमार बोले—श्रेणिक महाराज की तबियत अचानक बडी गभीर हो गई है और वैद्यो ने तुरन्त किसी मनुष्य के कलेजे के दो तोले मांस की माग की है सो आपको यह दो तोला मास देना ही होगा। महाराज का जीवन बचाने का प्रश्न है, जल्दी कीजिये। सामन्त तो सुनकर हक्का–बक्का हो गया और गिडगिडाने लगा कि किसी तरह उसको बचा लें। उसने दस लाख की राशि भी भेंट की। इस तरह अभय-कुमार सभी प्रमुख सामन्तों के यहां घूम गये। कोई भी अपने कलेजे का दो तोला मास देने को तैयार नही हुआ। सभी ने लाखो की राशिया दे दी।

दूसरे दिन राजसभा मे भारी भीड जमा थी। महाराजा ने अभय-कुमार से उत्तर प्रस्तुत करने को कहा—अभयकुमार ने लाखो की राशिया महाराज के चरणो मे भेंट की व रात की सारी बात सुनाते हुए निवेदन किया कि मुझे तो मांस ही सबसे महगा खाद्य मालूम हुआ है—दो तोले मास का

मोल दस लाख रुपये ! यह इन लोगो का अज्ञान है जो अन्य प्राणियो के मास को इन्होने सबसे सस्ता बताया । यदि इनके विषम भाव नही होते तो ये प्राणियो के व अपने मास को बराबर ही मानते ।

'सबको अपने समान समझो' का व्यावहारिक पाठ

श्रेणिक महाराजा ने तब सामन्तो को समझाते हुए कहा—आप लोगो के हृदय विषमता से भरे हुए हैं । इसी कारण आपको अन्य प्राणियो का मास तो सबसे सस्ता दिखाई दिया और अपना खुद का मास सबसे महगा । इस उदाहरण से आप अब समता की ओर मुडिये और सबको अपने समान समझिये । जैसा जीवन आपको प्यारा है, वैसा ही वह प्रत्येक प्राणी को प्यारा होता है । अपने सुख दुख के अनुभव जैसा ही प्रत्येक प्राणी का अनुभव होता है । अत जीवन को सदाशयी बनाना है तो समता का व्यावहारिक पाठ आचरण मे क्रियान्वित करना होगा ।

क्या श्रेणिक महाराज का यह व्यावहारिक पाठ सबके लिये नही है ?

आज चारो ओर फैले हुए वातावरण पर एव सामान्य जन के आचरण पर नजर दौडावें तो ऐसा लगता है कि विषमता व्याप्त हो रही है । विचार मे विषमता, वचन मे विषमता तो व्यवहार मे भी विषमता—जीवन क्रम जैसे अस्त–व्यस्त हो रहा है । वासना, स्वार्थ, हिंसा आदि दुर्गुणो से मानव जीवन ग्रस्त है । सद्भाव, सहानुभूति, सहयोग जैसे सद्गुणो को वह भूलता चला जा रहा है । ऐसे कठिन समय मे समता की सर्वोपरि आवश्यकता है । प्रबुद्ध व्यक्तियो को आगे आकर समता–दर्शन का इस तरह प्रचार करना चाहिये कि सबको अपने समान समझने की वृत्ति का विकास हो ।

समता : संसार से सिद्धस्थल तक

सबको अपने समान जानने की जो समताधारा है—यह सबको शीतलता प्रदान करने वाली है । ससार के विभिन्न क्षेत्रो मे व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के जीवन मे यदि समता स्थापित होती है तो वहा सुखमय वातावरण ढलता है जिसमे रहकर व्यक्ति को समता के आध्यात्मिक क्षेत्र मे गति करना सहज बन जाता है । यह गति यदि सुव्यवस्थित बन गई तो फिर चरम लक्ष्य के रूप मे मोक्ष प्राप्ति कठिन नही रह जाती है, जहा समता का उच्चतम आदर्श रूप विद्यमान रहता है कि सभी आत्माए ज्योति मे ज्योति की तरह हिलमिल कर सदा–सदा के लिये अवस्थित हो जाती हैं ।

सिद्धस्थल की इस समता का श्रीगणेश ससार से ही करना होगा । सम्यग् दृष्टि से श्रावकत्व एव श्रावकत्व से साधुत्व की श्रेणियो मे समता की सीढिया चढनी होगी । अत इन सीढियो से नीचे के धरातल पर पाव जमाने के लिये सबसे पहले सबको अपने समान जानने का अभ्यास आरम्भ कर दीजिये ।

स्वकीय शक्ति की पहिचान !

श्री सुविधि जिनेश्वर वंदिये हो. .. ...

अव्याबाध सुख पामिया हो, वेदनीय कर्म खपाय ।
अवगहना अटल लही हो, आयु क्षय कर जिनराय ॥

सुविधिनाथ भगवान् के चरणो मे प्रार्थना के माध्यम से कवि विनयचन्द्र जी ने महत्त्वपूर्ण सकेत दिया है । आत्मा की पवित्रता को मुखरित करने के लिये उसके अन्दर रही हुई अनन्त शक्तियो का प्रकटीकरण मानव अपने इसी जीवन के धरातल पर कर सकता है । प्रार्थना मे यही महत्त्वपूर्ण सकेत है कि मानव निज की शक्ति की पहिचान करे ।

विकास की आकाक्षा रखने वाले कई मनुष्य भी मन मसोस कर हतोत्साहित होकर बैठे हुए हैं । वे यह सोचते हैं कि हम शक्तिहीन हैं, सम्पत्तिहीन हैं और साधनहीन हैं, अत हम कुछ नही कर सकते हैं । यह अज्ञान है—आत्मविश्वास के अभाव की स्थिति है । ज्ञानीजन इस विषय मे थके हारे मनुष्य को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं—हे मानव, तू अपने आप को नहीं पहिचानता—तेरे पास अतुल शक्ति है, अमित वैभव है जो तेरे अपने ज्ञान से भी छिपा हुआ है । इसलिये सच्चे ज्ञान को पैदा कर । अपनी दृष्टि को अन्दर लेजा और विश्वास के साथ साधना मे तल्लीन बन । फिर देख कि तू कितना शक्तिशाली है, कितना वैभव सम्पन्न है ?

अपनी आत्मा से जुडी हुई विश्व की विराट् शक्तियां

मनुष्य की अपनी आत्मा से विश्व की विराट् शक्तिया जुडी हुई हैं। विकास के श्रेष्ठ साधन उसके पास हैं, किन्तु उसकी दृष्टि और-ओर तरफ भटक रही है, उसकी भावना विशृंखलित बन कर गलत दिशाओ मे वह रही है। यदि मनुष्य अपने अधकारपूर्ण वर्तमान जीवन को प्रकाशमय दिशा की ओर मोटना चाहता है तो वह अपनी दृष्टि एव भावना पर नियत्रण करके उस अनन्त शक्ति को प्रकट कर सकता है जो आत्मा को भव्य रूप प्रदान करती है। विराट् विश्व मे फैली हुई जितनी भी विराट् शक्तिया हैं, उन शक्तियो से आत्मा का सम्बन्ध जुडा हुआ है, किन्तु उस सम्बन्ध को सक्रिय बनाने के लिये भावना के विद्युत्प्रवाह की आवश्यकता है। जैसे बिजलीघर से आपके घर की बिजली फिटिंग का सम्बन्ध तो जुडा हुआ हो, लेकिन करेन्ट नही हो तो प्रकाश कैसे होगा ? यह करेन्ट ही भावना है। भावना का प्रवाह ज्यो ही सही दिशा मे बहने लगेगा तो आत्मा का शक्तियो के साथ अपना सम्बन्ध सजीव हो उठेगा।

अनन्त शक्तियो के साथ आत्मा सम्बन्धित है, इस सत्य को समझने की आवश्यकता है। ज्यो ही यह सत्य आत्म-चेतना मे उजागर हो जाता है, आत्मा उन शक्तियो को प्रकट करने के कठिन कार्य मे जुट पडती है। फिर वह उन शक्तियो का सदुपयोग भव्य रीति से करती हुई अपना विकास सम्पादित कर सकती है।

शक्ति का स्रोत फूटता है मनोबल की दृढता के साथ

भगवती सूत्र के प्रसग से आप शक्रेन्द्र की शक्ति का कुछ परिचय पा गये हैं। जब चमरेन्द्र ने आसुरी वृत्ति के साथ उत्पात किया, तब शक्रेन्द्र ने अपने सिंहासन पर बैठे बैठे ही एक शक्ति-शस्त्र का प्रयोग किया। आप कल्पना कर सकते हैं कि वह शस्त्र लोहे का बडा वज्र जैसा रहा होगा, किन्तु उस समय के शास्त्रो के गहन तत्त्व का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि वह शस्त्र मनोबल की शक्ति का प्रयोग था। बताया गया है कि इन्द्र जब सिंहासन पर आरूढ होते थे, उस समय वैक्रिय एव अन्य शक्तियो से वे सम्पन्न हो जाते थे। उन शक्तियो का प्रयोग जिस रूप मे भी वे चाहते, अपने सकल्प बल से कर सकते थे।

क्या आप जानते हैं कि इन्द्र को ऐसी शक्तिया कैसे उपलब्ध होती हैं ? क्या उन्होंने वहा स्वर्ग मे रहकर साधना की और उन शक्तियो को प्राप्त

किया ? नही, ऐसा नही है । स्वर्ग साधना का स्थल है नही, साधना का सर्वश्रेष्ठ स्थल है यही ससार और यही मनुष्य जीवन । इन्द्र का जीवन भी वही पाता है जो मनुष्य तन मे रहकर अपनी कर्मण्य शक्ति से वैसे गौत्र कर्म का वध करता है । तो क्या मानव इस मानव-जीवन में उन शक्तियो का सम्पादन नही कर सकता है ?

इस सत्य को याद रखिये कि मनोबल की दृढता के साथ ही शक्ति का स्रोत फूटता है । आपका मन मजबूत बन जाना चाहिये कि आप अपने भीतर छिपी हुई शक्तियो को प्रकट करके ही रहेगे । मनोबल और सकल्प बन गया तो फिर अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेने से कोई भी ताकत आपको डिगा नही सकती है । हतोत्साहित होने का सबसे बडा कारण ही यह होता है कि मनुष्य का मन उसका साथ नहीं देता अथवा मनुष्य अपने मन को नियत्रित नही कर पाता है । मन का बल अलग और मनुष्य का कार्य जब अलग हो तो कामयावी नही मिलती है । इसलिये मनोबल की दृढता पहले जरूरी है ।

सुविधि की सुविधि का आप अनुसरण करें !

इन्द्र क्या, इन्द्र से भी ऊपर वीतराग की अनन्त–अनन्त शक्तियो का मनुष्य अपनी आत्मा मे उद्घाटन कर सकता है, जबकि वह अपने मनोबल को सुदृढ बनाले तथा भगवान् सुविधिनाथ द्वारा बताई गई आत्म–विकास की सुविधि का अनुसरण करे । उस सुविधि का जीवन मे सचार तभी हो सकता है जब आत्मानुशासन को स्वीकार किया जाय । अपने आप मे अनुशासित बनना, भटकती हुई मनोवृत्तियो पर नियत्रण पाना तथा जीवन को आत्मविकास की राह पर आगे बढाना सयम के केन्द्रबिन्दु माने गये हैं । सयमी जीवन में आत्मा का शासन इतना सजग बन जाय कि प्रत्येक विचार और वृत्ति आत्मा के अधीन ही कार्यरत हो ।

सुविधि का जब अनुसरण किया जायगा तो अन्तर्दृष्टि विकसित बन जायगी तथा भावना सुविधि के ढाचे मे ढल जायगी, जिससे आत्मा का सचालन पूर्णतया विकासोन्मुखी हो जायगा । जो स्वय पर नियत्रण पा लेता है और सयमी शक्ति को सम्हाल लेता है, वह व्यक्ति इस विराट् विश्व मे विराट् शक्तियो को अपने भीतर सजीव रूप दे देता है । तब वह उन शक्तियो का लोककल्याण मे चाहे जिस प्रकार सदुपयोग कर सकता है ।

ऐसी शक्तियो का खजाना मनुष्य के इस छोटे से जीवन के अन्दर भरा हुआ पड़ा है । वह जिस क्षण भी विचार करले–अपना निर्णय बनाले तो

सुविधि का अनुसरण करके उस खजाने को प्राप्त कर सकता है। खजाना प्राप्त क्या करना है, उसे खोज कर प्रकट करना मात्र है क्योंकि वह तो अपनी ही आन्तरिक गहराइयो मे छिपा हुआ है। विडम्बना की बात यही है कि आज के मनुष्य का ध्यान उसकी तरफ नही है।

नाशवान तत्वो को बटोरने मे पागल बना आज का मनुष्य

आज का मनुष्य अपने जीवन की महत्ता को भुलाये हुए है। वह आत्मा की शक्तियो को विसार बैठा है। आत्मा की अमरता का उसे ज्ञान नही, निज की शक्ति की उसे पहिचान नही तो अपने आत्मिक बल पर भी उसे विश्वास नही है। वह तो ससार के नाशवान तत्वो पर मुग्ध बना हुआ है और पागल बनकर उन्ही तत्वो को बटोरने मे अपने अमूल्य जीवन को खपा रहा है। जिन तत्वो की शक्ति स्थायी नहीं है, उन तत्वो के सग्रह मे वह अपनी स्थायी शक्ति को बरबाद कर रहा है। बाहरी विषयो मे उलझ कर वह इस अमूल्य जीवन को निरर्थक बना रहा है। अज्ञान एव अविश्वास के इस गर्त से मानव को आज उबारने की आवश्यकता है कि वह अपनी शक्ति को पहिचाने।

अनादि काल से मानवात्मा का स्वभाव विकारी बना हुआ है। उसे सचेत करने के लिये ज्ञानीजन का सकेत है—हे मानव, तू निज की प्रज्ञा को सम्हाल और अपनी शक्ति को पहिचान। इस शक्ति को पहिचानने के लिये शास्त्रो मे सुविधि का सकेत दिया गया है, जिसे जीवन मे कार्यान्वित करने से काम बन सकता है।

नई शक्ति पैदा नहीं करनी है अपनी ही शक्ति प्रकट करनी है

मैं आपके समक्ष शास्त्रीय सुविधि के बारे मे क्या कुछ कहूं? जहा भी मानव ने अपनी मनोवृत्तियो पर नियत्रण किया है, उसने अपनी शक्तियों का सवरण भी किया है। मूल तथ्य यह समझ लिया जाना चाहिये कि शक्तियो का नये सिरे मे अर्जन नहीं करना है, बल्कि अपने ही भीतर दबी हुई शक्तियो को अपने सुदृढ मनोबल के साथ प्रकट करने का पुरुषार्थ करना है। दो कामो का ध्यान रखना है—एक तो छिपी हुई शक्तियो को प्रकट करना तथा बाद मे उन प्रकट शक्तियो का सदुपयोग करना। कुछ व्यक्ति शक्ति पाकर अपने को कुछ का कुछ समझने लग जाते हैं और उस नासमझी मे वे अपनी शक्तियो का दुरुपयोग कर बैठते हैं। यह दुरुपयोग उन शक्तियो को भी नष्ट कर देता है तो उन आत्माओ को भी डुबो देता है। अत शक्ति

प्रकट करने में सच्ची साधना तो उसके उपयोग में विवेकपूर्ण सतर्कता का बराबर ध्यान रहना चाहिये।

मनुष्य अपनी शक्ति का अपने ही जीवन के लिये प्रयोग नही करता, वल्कि उसका प्रयोग वह सामाजिक राष्ट्रीय आदि धरातल पर भी करता है। जब वह अपनी शक्ति का सही प्रयोग करता है तो सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन को भी सुव्यवस्थित बनाता है। समाज और राष्ट्र मे उसे जो विपमता दिखाई-देती हैं, उसे मिटाने मे तथा समतापूर्ण वातावरण की रचना करने मे वह अपनी शक्ति का सदुपयोग करता है। तव पारिवारिक समस्याओ को भी वह इसी दृष्टिकोण से सुलझाता है। अपने ही आत्म-तल से प्रकट की हुई शक्ति सदुपयोग के द्वारा सब ओर सृजनकारी रूप ग्रहण कर लेती है।

प्रकटित शक्ति का समता-समाज के निर्माण में प्रयोग

प्रकटित शक्ति के सदुपयोग की दिशा क्या हो? समाज, राष्ट्र, विश्व एव समस्त प्राणी समूह को इस आत्मिक शक्ति का लाभ मिल सकता है, यदि मनुष्य अपने दृष्टिकोण को विस्तृत बनावे। समता समाज का निर्माण मैं इस सदुपयोग की स्वस्थ दिशा मानता हूँ। समता समाज के निर्माण से मेरा अभिप्राय एक अलग समाज के निर्माण से नही है, बल्कि समस्त मानव समाज को समता के सद्भाव-रग मे रग देना है। अपने विचार एव व्यवहार मे मनुष्य समता का समावेश करले तो समाज-गत सम्पूर्ण व्यवस्थाए लोक कल्याणकारी वन जायेंगी। ऐसे समतामय समाज मे लोग अपने आपको भूल कर दूसरो की हित चिन्ता मे निमग्न वन जायेंगे। समत्व का ऐसा वातावरण आत्मिक शक्तियो के अधिकतम प्रकटीकरण को निरन्तर प्रोत्साहित करता रहेगा।

समता की दिशा मे आगे वढने के लिये सवसे पहले आत्मशक्ति का प्रकटीकरण जरूरी हो जाता है क्योकि एक सशक्त व्यक्ति ही समाज को सशक्त वना सकता है। व्यक्ति जब अपने विचारो एव कार्यो को व्यवस्थित बनाता हुआ अपने चरण आगे वढाता है तो उसके सामने सामाजिक क्षेत्र हो या धार्मिक समाज अथवा सासारिक व्यवस्था हो या कोई नैतिकता का आन्दोलन वह अपनी शक्ति से उसे सुघड रूप दे देता है तथा उसमे शक्ति को सचरित करता है। वह व्यक्ति अपने जीवन मे परिवार की स्थिति मे ऊपर उठता हुआ समाज के रंग-मंच पर भी विनम्र वनकर सामाजिक अनुशासन को प्रेरित करता है। उस के चरण वीच मे कही रुकते नहीं हैं। समाज मे राष्ट्र के रगमच पर और उमसे भी आगे लोक-कल्याण के मार्ग पर वे निरन्तर चलते ही रहते हैं।

पंजाब केशरी रणजीतसिंह की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक तथ्यो के अनुसार ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियो का व्यक्तित्व उभर कर ऊपर आ जाता है और वे लोककल्याण के मार्ग पर अग्रसर बन जाते है। पजाब केशरी रणजीतसिंह का व्यक्तित्व ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे इसी प्रकार उजागर हुआ था।

रणजीतसिंहजी पजाब-केशरी इसलिये कहलाये कि वे शूरवीर होने के साथ बुद्धिशाली, अनुशासनप्रिय, एव सत्यनिष्ठ थे। जीवन को ठीक दिशा में रख कर वे चल रहे थे लेकिन अमुक अवस्था मे पहुचने के बाद उनके मन मे यह आगया कि वे ही सब कुछ हैं। उन्होंने अपना मान परिवार, समाज और राष्ट्र से भी ऊपर समझ लिया। तब सिख-समाज के जो सघीय नियम थे, उनकी उन्होने उपेक्षा शुरु कर दी। अगली बार समाज की जब सगत जुटी और सामाजिक व्यक्ति एकत्रित हुए तो बडे बूढो ने रणजीतसिंह को सही रास्ते पर चलने की सलाह दी। रणजीतसिंह का गलत रास्ता यह था कि वे अपनी तुच्छ वासनापूर्ति के लिये एक वेश्या से विवाह करना चाहते थे। रणजीतसिंह ने सलाह नही मानी और वेश्या से विवाह कर लिया। उसके बाद उन्होने गुरुद्वारे मे उपहार भेजा तो उस उपहार को वापिस लौटा दिया गया यह कह कि उन्होने सगत के अनुशासन को भग किया है। यह उनके लिये समाज-बहिष्कार का आदेश था।

सिख-समाज की व्यवस्था बडी सुन्दर है। सगत के इस आदेश से रणजीतसिंह को अपनी भूल महसूस हुई। तब उन्होने सगत मे उन्हें वापिस लेने का अनुरोध करते हुए दड स्वीकार करने की अपनी तैयारी जाहिर की। फिर भी सगत ने उस विनति पर कोई ध्यान नही दिया। फिर संगत की जब बैठक हुई तो रणजीतसिंह बाहर खडे रहे और निवेदन किया कि मैंने अनुशासन-हीन होकर नीच कार्य किया उसके लिये जो भी दड दिया जायगा, उसे मैं स्वीकार करूंगा। फिर उन्हें रुपयो का जुर्माना देने, सौ कोडे लगवाने तथा सबकी जूतियां उठाने की सजा दी गई किन्तु उनकी प्रायश्चित्त की सच्ची भावना देखकर सभी द्रवित हो उठे।

यह सिख समाज का रूपक है जिससे स्पष्ट होता कि जब व्यक्ति अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने पर उतारू होता है, तब सामाजिक शक्ति ही उस दुरुपयोग को कठोरता के साथ रोक सकती है तथा व्यक्ति की शक्ति को फिर से सही राह पर लाती है।

आत्मा की महान् शक्ति एवं विकास का विशाल क्षेत्र

आत्मा की शक्ति को पहिचान कर जब उसे प्रकट कर लेते हैं तो उसका रूप महान् बन जाता है। इसके अनुरूप विकास का क्षेत्र भी विशाल होता है। विकास के क्षेत्र में कई खंड होते हैं—समाज का खंड, राष्ट्र का खंड, प्राणिसेवा का खंड आदि। एक २ खंड में जब अमित आत्मशक्ति का प्रयोग किया जाता है, तब वहां विकास की स्वर्ण रेखाएं खिचती हैं।

मनुष्य की आत्मिक शक्ति उसके जीवन में रही हुई है, किन्तु विचारने का प्रश्न यह है कि उस शक्ति का प्रकटीकरण एवं संचय किस प्रकार हो सकता है तथा उस शक्ति का सम्पूर्ण विकास कैसे साधा जा सकता है ?

व्यक्ति अपने परिवेश मे रहता हुआ अपने पर अकुश रखता है और अपने मे सामाजिक धरातल पर कष्टों को सहन करने की क्षमता पैदा कर लेता है तो वह अपने जीवन में सब कुछ कर सकता है। जिस सामाजिक धरातल पर आप रह रहे हैं, उसके अनुसार सभी क्षेत्रो मे अपने कर्त्तव्यों का आपको समुचित निर्धारण करना चाहिये। यह निर्धारण समाज में समता-प्रसार की दृष्टि से हो, ताकि व्याप्त विषमता को कम कर सके। धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र मे भेदभाव एवं विषमता का प्रसग नही हो। आत्मा की महान् शक्ति से विकास का विशाल क्षेत्र लाभान्वित होना चाहिये।

... का सफल प्रयोग, वीरसंघ योजना

साधुधर्म की मर्यादाएं बनी रहें तथा आत्मशक्ति का लोक कल्याण की दृष्टि से सफल नियोजन किया जा सके—इस उद्देश्य से स्व. आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. ने वीरसंघ योजना के रूप मे ऐसे तीसरे वर्ग (साधु एवं श्रावक के बीच में) के निर्माण की बात बताई थी जो धार्मिक प्रचार-प्रसार का काम जीवट से कर सके। स्व. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. ने भी इस मध्यम वर्ग की स्थिति को समाज के समक्ष लाने का प्रयास किया था और अजमेर वृहद् साधु सम्मेलन में यह सुझाव रखा था। अभी श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन सघ के अध्यक्ष श्री गुमानमल जी चोरड़िया ने इस योजना की रूपरेखा आपके सामने रखी है तथा इसको जीवन्त रूप देने का प्रस्ताव किया है, जो वास्तव मे विचारणीय एव करणीय है।

साधु जीवन अनुशासनबद्ध पद्धति से अपने नियमोपनियमो का पालन करता हुआ आदर्श उपस्थित करता रहे तो त्यागी श्रावको का वर्ग धर्म का

सुदूर प्रदेशो तक भी प्रचार प्रसार करे, यह वाञ्छनीय है। समाज के कुछ ऐसे व्यक्ति आगे आवें जो साधु जीवन की मर्यादा को तो सर्वथा स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु गृहस्थ जीवन मे त्याग के इच्छुक हैं। ये लोग जिन-धर्म को दूर दूर तक दिपा सकते हैं। साधु जीवन के आचार की रक्षा इस वर्ग के हाथो भली भांति हो सकेगी, वरना आज जिस रूप मे धार्मिक कार्यों के विविध प्रपच साधु जीवन को घेर रहे हैं, वह अवश्य ही खतरे की घटी है। साधु का आचारगत अनुशासन अक्षुण्ण रहना चाहिये।

शक्तिशाली जीवन की नींव

जीवन मे जो शक्तिशाली बनता है, वही सच्चा जीवन जीता है। आत्मबल से मजबूत बन कर जो शक्तिशाली होता है, वही परिवार, समाज, राष्ट्र आदि को भी शक्तिशाली बना सकता है। इसलिये अपनी निज की शक्ति को पहिचान कर शक्तिशाली जीवन की नीव आज ही रखिये।



संसार का मूल कहां है ?

श्री दृढरथ नृप तो पिता, नन्दा थारी माय ।
रोम रोम प्रभु मो भणी, शीतल नाम सुहाय ।।
जय जय जिन त्रिभुवन धणी, करुणानिधि करतार ।
सेव्या सुरतरु जेहवो, वाछित सुख दातार ।।

प्रभु शीतलनाथ के चरणो मे प्रार्थना की पक्तियो का उच्चारण बन पडा है । प्रभु के अनेक नामो मे से एक नाम शीतलनाथ भी है । नाम कभी कभी रूढिगत भी होते हैं तो सज्ञावाचक भी होते हैं । प्रभु का नाम सार्थक है । शीतल नाम शान्ति देने वाला है । प्रभु ने अपने जीवन मे अनन्त शीतलता प्राप्त करली एव उसे प्राप्त करने का जगत् को मार्ग दिखलाया । आत्मिक शीतलता आत्मिक गुणो के आधार पर ही प्राप्त होती है । मूल आत्मिक स्वरूप स्वाभाविक तोर पर शीतल होता है, उसमे न तो ऊष्णता होती है और न विकृति । विकार बाहर से आते हैं और आत्मा की मूर्छावस्था मे कर्म रूप मे उससे [illegible]न हो जाते हैं ।

आत्मा की मूर्छावस्था क्यो ?

आत्मा जब तक अपना मूल स्वरूप नही पहिचानती है और साथ ही जब तक वह ससार का भी मूल स्वरूप नही पहिचानती है, तब तक वह यहा रहे हुए पदार्थों एव तत्त्वो के मूल को भी खोज नही पाती है । कौन से तत्त्व

ग्राह्य हैं, कौन से तत्त्व त्याज्य हैं तथा कौन से तत्त्व केवल जानने लायक हैं— इसका उसे भान नही होता है । आत्मा की सज्ञा जब इस दृष्टि से सोई हुई रहती है, तब यह कहा जा सकता है कि आत्मा अपनी मूर्छाभरी अवस्था मे चल रही है ।

आत्मा अपनी आन्तरिकता से अनभिज्ञ रह कर बाहरी पदार्थों को अपनी ओर लाने के लिये आकर्षित होती है । जिन दृश्यो को वह बाहर देखती है उनके बारे मे सोचती है कि ये दृश्य तो बहुत ही मनोहर व रमणीय हैं— मैं इनका आनन्द-लाभ लू । तब उनके लिये वह इतनी बेचैन हो जाती है कि उन का आनन्द-लाभ लिये बिना वह सुख का अनुभव नही करती । किसी भी प्रकार से तब वह आत्मा उन बाहरी दृश्यो को अपने लिये सुलभ बनाने की चेष्टा मे लग जाती है । ऐसे चिन्तन एव ऐसी चेष्टाओ के कारण वह आत्मा अपने स्वरूप से भिन्न ससार के पर-पदार्थों को अपने साथ सयुक्त कर लेती है— उनके साथ अपना लगाव जोड लेती है । इस तरह आत्मा अपने अनुभवो को उन पदार्थों के प्रति आसक्त बना लेती है ।

तृष्णा एवं आसक्ति की अन्तहीन कड़ी

आत्मा जब अपने चैतन्य स्वभाव से अलग हटकर ससार के जड पदार्थों के प्रति विमुग्ध बनती है तो आसक्ति का क्रम शुरु होता है । आसक्ति जितनी गाढी बनती जाती है, उन पदार्थों को प्राप्त कर लेने की चेष्टाए-कुचेष्टाए भी उतनी ही मात्रा मे बढती जाती हैं । फिर जो पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, उनके रख-रखाव की चिन्ता आसक्ति के साथ चलती है और जिन पदार्थों की प्राप्ति नही होती है, उन पदार्थों की वाछा की जाती है । इस वाछा को तृष्णा कह सकते हैं । आसक्ति और तृष्णा की कडिया अन्तहीन होती हैं । ग्रथकारो ने तृष्णा को वैतरणी नदी का रूपक दिया है ।

तृष्णा एव आसक्ति की अन्तहीन कडी से जब आत्मा अपने आपको जोड लेती है तो वह निरन्तर अपने सत्य स्वरूप के ज्ञान से दूर हटती जाती है । जैसा उदाहरण दिया जाता है कि पहले ही बन्दर, फिर उसे भग पिलादे और उसके बाद उसे बिच्छू डक मार दे, तब उसकी उछल कूद का क्या कहना ? कर्मों के भार से लदी हुई आत्मा पहले से होती है और फिर तृष्णा और आसक्ति के वातचक्रो मे फस जावे, तब उस आत्मा की सज्ञाहीनता विकट अवस्था मे पहुच जाती है । इसी अवस्था का अध्ययन करके ससार के मूल का ज्ञान किया जा सकता है ।

संसार एवं उसका मूल

पहिले देखें कि संसार शब्द की व्युत्पत्ति क्या है ? 'संसरति इति संसार.' अर्थात् जो संसरण करता है वह संसार है। संसार का क्रम कभी टूटता नही, इसीलिये उसे अनादि एव अनन्त कहा है। भूतकाल मे भी संसार था, वर्तमान मे है तथा भविष्य मे भी रहेगा। जब कभी दुनिया के दिमाग मे प्रलय की बात आती है या प्रलय के सम्बन्ध मे विभिन्न मत व्यक्त किये गये हैं तो उसके साथ यह बात भी कही गई है कि प्रलय के बावजूद सृष्टि चलाने वाले कुछ तत्त्व बच जाते हैं जो नई सृष्टि की रचना करते हैं। संसार मे प्रलय हो जाता है और फिर नये सिरे से संसार पैदा होता है व बसता है।

छोटे मोटे प्रलय तो भूकम्प, बाढ, युद्ध आदि से होते हुए लोग देखते है। इन्हे आंशिक प्रलय कह सकते हैं। उन्नत देश होता है या भव्य समृद्ध नगर होता है, वह भूकम्प या युद्ध से तहस नहस हो जाता है। किन्तु फिर उसी स्थान पर नये नगर और नये उद्योग पनप आते हैं। पिछले महायुद्ध मे जापान के नगरो पर अणुबम डालकर उन्हे राख के ढेर मे बदल दिया गया था, किन्तु आज वहा पर उनसे भी अधिक भव्य नगर आबाद हो गये है। विनाश और निर्माण का यह क्रम टूटता नही है और इसीलिये संसार का क्रम भी चलता रहता है।

प्रलय की बात जैन ग्रंथो मे खण्ड-प्रलय की अपेक्षा से आती है जिसे एक युग मे छठे आरे (कालखड) की सज्ञा दी गई है। छठा आरा शुरु होते ही सात-सात दिन मिलाकर कुल उनपचास दिनो तक ककड, अग्नि, हवा, पानी आदि मारक तत्त्वो की ऐसी बरसाते होती हैं कि सब कुछ नष्ट हो जाता है। फिर भी गहरी गुफाओ आदि मे कुछ लोग बच जाते है और संसार का क्रम बनाये रखते हैं।

ऐसा यह संसार टिका हुआ है और चलता रहता है, जड एव चेतन के सगम के आधार पर। इसका मूल है जड और चेतन का मेल। यह मूल कैसे जमता है, कैसे चलता और फलता है—इस पर विचार करेंगे।

सर्व प्रथम संसार के मूलगुण का ज्ञान आवश्यक

महावीर प्रभु ने आचाराग सूत्र मे संसार के मूल का स्पष्टीकरण किया है। वहा बताया गया है कि जो मूल गुण है, वह मूल स्थायी है और जो स्थायी मूल है, वही उसका गुण होता है। यहा पर जो 'गुण' शब्द आया है, गुण की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप अभिव्यक्त नही किया गया है। उसमे

मुख्यत शाब्दिक रूप है। कान मे सुनने का गुण है, वह शब्द। कान शब्द को श्रवण करता है, उस शब्द को भी गुण कहा है। आखो का गुण देखना है, इसलिये दृष्टि चक्षु का गुण हुई है। नाक से गध ली जाती है तो गध भी गुण रूप है। जिह्वा रस के लिये लालायित रहती है तो उसको भी गुण कहा है। त्वचा स्पर्श की दृष्टि से अपने स्वरूप को रखती है तो वह भी उसका गुण है। ऐसे पाच शाब्दिक गुण कहे गये हैं और इन्ही गुणो को उन उन इन्द्रियो का मूल कहा गया है। इस ससार का मूल इन्हीं गुणो के मूल मे रहा हुआ है।

यदि आत्मा अपने लिये इस ससार का अन्त करना चाहती है या ससार के दु खो से छूटना चाहती है अथवा ससार के गुणावगुणो से निवृत्ति लेना चाहती है तो उसे सर्व प्रथम इस ससार के मूल को देखना चाहिये तथा इसके मूलगुण को समझना चाहिये। जब तक ससार का मूल विद्यमान है, तब तक ससार मे दु ख की अवस्था, सन्तप्त जीवन का आधार तथा दोषपूर्ण परिस्थितिया भी विद्यमान रहेगी।

ससार का मूल कहां पर टिका हुआ है ?

यह ससार जड और चेतन—दो तत्त्वो से मिल कर बना है। चर्म-चक्षुओ से जितना जो कुछ सब ओर दिखाई देता है, वह सब कुछ जड है। किन्तु जड स्वय चालित नही होता। उसे चलाने वाली होती है आत्मा, जो अरूपी होती है। ससार की रचना का मूलाधार है जड एव चेतन का सगम। दिखाई देने वाली देह जड-स्वरूप होती है किन्तु उसकी सक्रियता का रहस्य उसकी आत्मा मे छिपा हुआ है। देह जब तक आत्मा सहित होती है, जीवित दिखाई देती है। ज्यो ही आत्मा देह को छोड देती है, देह निष्प्राण हो जाती है। उस मृत देह का फिर अन्तिम सस्कार किया जाता है।

चेतन रूप आत्मा भवभ्रमण करती हुई ससारी आत्मा कहलाती है। जब तक वह कर्म भार से लदी हुई रहती है, तब तक उसे फल प्राप्ति के रूप मे ससार में भटकते रहना पडता है। कर्मों की समस्त निर्जरा के बाद उसे मोक्ष मिल जाता है। उसके ससार मे भटकते रहने का अर्थ है विभिन्न योनियो मे भटकना, अपने कर्म फल के अनुसार नये २ शरीरो मे जन्म धारण करना तथा आयु पूरी करके उन्हे छोडते रहना।

आत्माओ के इसी जन्म-मरण के चक्र पर ससार का ससरण टिका हुआ है और आत्मा जन्म-मरण तब तक ही करेगी जब तक उसका मोक्ष

नही हो जाता। मोक्ष नही होने से कर्म-बंध न्यूनाधिक अशो मे आत्मा के साथ सलग्न रहता ही है। यह कर्म-बध पाप और पुण्य दोनो रूप मे हो सकता है।

जड रूप शरीर के प्रतीक चिन्ह हैं उसकी पाचो इन्द्रिया, जो सांसारिक सुखो का अपने अपने माध्यम से आस्वादन लेती हैं। आत्मा चैतन्य स्वरूप होती है किन्तु वह अपने शरीर के वश मे कितनी रहती है और अपने वश मे कितनी हो सकती है—यह संयम साधना का प्रश्न है। किन्तु आरभिक सस्कारो से इन्द्रियो के सुख की ओर आकर्षण रहता है, अत ससार के मूल को इन्द्रिय-सुख पर टिका हुआ कहा जा सकता है।

इन्द्रिय सुख या आत्मसुख ?

ससार मे जो सारी हलचल है—सक्रिय व रचनात्मक वातावरण है वह देहधारी आत्माओ की देन है। देह स्वय जड है, अत. उस का जड पदार्थों की तरफ आकर्षित होना स्वाभाविक है। निस्सन्देह आत्मा देह की सीमा मे बधी हुई होती है, किन्तु उसका विवेक और उसकी शक्ति विराट् होती है। यदि आत्मा की शक्ति दबी हुई है तो वह देह-वृत्तियो के अधीन होती है, जिससे उसका झुकाव इन्द्रिय सुख की तरफ ज्यादा बन जाता है। इन्द्रिया जितनी ज्यादा अनियन्त्रित अवस्था मे रहे, उतनी ही आत्मा की पराधीनता बढ जाती है। वैसी आत्माए ससार को इन्द्रिय-सुख का ही केन्द्र मानकर अपने विचार एव व्यवहार मे निकृष्ट बनती जाती हैं। तब इन्द्रिय सुख आत्मा को तृष्णा एव आसक्ति के दलदल मे इस तरह फसा देता है कि उस आत्मा का निस्तार दुष्कर हो जाता है।

इन्द्रिय-सुख पर टिका हुआ ससार निश्चय ही दु खो का स्थान है, किन्तु ससार ही ऐसा भी स्थान है, जहा इन्द्रिय सुख को नियन्त्रित करके आत्म-सुख की उच्चतम ऊचाइया भी प्राप्त की जा सकती हैं। इस दृष्टि से ज्ञान एव कर्म की ज्योति जगाई जाय एव प्रबुद्ध वातावरण का प्रसार किया जाय तो ससार के इस मूल मे यत्किंचित् परिष्कार किया जा सकता है। जहा तक शरीर है, इन्द्रियो का आवश्यक पोषण तो होता ही है, किन्तु भावना का परिवर्तन कर दिया जाय कि आत्म-सुख को परिपूर्ण बनाना ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है, अतः इन्द्रिय-सुख के लिये आत्मसुख के पथ से भटकना अनुचित है। राज्य एवं समाज की व्यवस्था को भी ऐसा रूप दिया जा सकता है जो इन्द्रिय सुख को महत्त्वहीन बना सकता हो। इन्द्रिय सुख का मिल

जाना कुछ और परिणाम लाता है और इन्द्रिय सुख को प्राप्त करने के लिये जो चेष्टाए–कुचेष्टाए की जाती हैं, उनका परिणाम भयकर होता है। हिंसा, असुरक्षा, अपराध, नीतिहीनता आदि का जो दौर–दौरा समाज मे चलता है तथा जो व्यक्ति को पीडित बनाता है, वह इन चेष्टाओ–कुचेष्टाओ से पैदा होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि सामूहिक एव सामाजिक प्रयास किये जाय तो इस ससार के मूल को कुछ इस तरह परिवर्तित किया जा सकता है कि वह पुण्यवध का कारण बने, पापबध का नही तथा आत्म–सुख को प्राप्त करने के उत्साह एव मार्ग को प्रशस्त बना सके।

संसार के मूल तथा वातावरण में परिवर्तन :

मूल गुण मे परिवर्तन यत्किचित् रूप मे भी लाया जा सके तो देह वृत्ति की प्रवलता कम होकर आत्म–वृत्तियां अधिक सजग बन सकेंगी। तब ससार इतना दु खदायी नही रहेगा। यह कैसे हो सकेगा—इसके लिये तुलना–त्मक दृष्टिकोण से देखना होगा। हमारे देश मे सामान्यत नैतिकता का स्तर अच्छा नही है। दूकान पर दूकानदार के होते हुए भी ग्राहक चोरी करने की नीयत रखता है और कई बार ऐसी घटनाए सुनने में भी आती हैं। वहा कुछ देश ऐसे भी बताये जाते है जहां अखबारो की अथवा किन्हीं अन्य दूकानो पर दूकानदार बैठता भी नहीं है। ग्राहक अपने आप पसन्द की चीज ले लेता है और उस पर लिखे मूल्य के दाम वहा रखे डिब्बे मे डाल देता है। यह भी नैतिकता का एक स्तर है। समुचित प्रयास करने पर इस नैतिकता को काफी ऊपर तक भी उठा सकते हैं कि नागरिक व्यक्तिगत स्वार्थों को कम महत्त्व देकर सामूहिक हितो को अधिक महत्त्व देने लगें।

ससार के मूल मे इस प्रकार परिवर्तन लाना सत्प्रयासो के वल से सभव हो सकता है। प्रयास जितनी प्रगाढ निष्ठा से किये जायेंगे, उतने ही सुखद परिणाम भी सामने आ सकेंगे। मूल गुण मे परिवर्तन लाने पर यहा के समग्र वातावरण मे भी पर्याप्त परिवर्तन लाया जा सकेगा। यह परिवर्तन यदि एक सामान्य स्तर तक भी पहुचा दिया जाता है, तब भी ससार के दु खपूर्ण स्वरूप मे बहुत कुछ बदलाव आ सकता है।

ससार का मूल बदल जाय, यह स्थिति नहीं है और ससार का क्रम रुक जाय यह भी स्थिति नही है। केवल उस मूल का झुकाव थोडा बदल

जाय—देह वृत्ति एवं इन्द्रिय सुख से आत्मवृत्ति एव आन्तरिक सुख को प्रधानता मिल जाय तो राग द्वेष, वैर विरोध, लोभ-सचय, अपराध-हिंसा के वातावरण मे अवश्य ही अन्तर आ जायगा और साधारण रूप से नैतिक वातावरण वन जायगा।

अपने मूल स्वरूप पर आत्मचिन्तन का क्रम भी पनपे

संसार के मूल गुण में जो बदलाव आ सकता है, वह मुख्यत इसी स्थिति पर कि अपने मूल स्वरूप पर आत्मचिन्तन का क्रम भी पनपे। सारे वातावरण में मानवीय सभ्यता का विकास तभी परिलक्षित होगा, जब आदमी अपने लिये कम और दूसरो के हित के लिये ज्यादा फिक्र करने लगेगा। आत्म-चिन्तन इस मानवीय पक्ष को अधिकाधिक उभारेगा। जड़-चेतन का सम्बन्ध होते हुए भी चेतन प्रधान है और वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करे—यह आत्म-चिन्तन की मुख्य दिशा होनी चाहिये।

चेतन तत्त्व की प्रधानता का अर्थ यह होगा कि चेतन जड़ से नियंत्रित नही हो वलिक चेतन जड का नियत्रण करे और उसे अपने विकास के अनुरूप ढाले। शास्त्रकारो का संकेत है कि जड के प्रति चेतन की मूर्छा के कारण मानवात्मा पदार्थों से अपना सम्वन्ध जोडती है और अपने स्वभाव मे क्रूरता लाकर अपने निजी स्वभाव से दूर भटक जाती है। यह क्रूरता भारी हिंसा अथवा जन सहार का कारण बन जाती है। कंस ने हिंसा का जो ताडव नृत्य किया, वह क्यो किया ? रावण वासना के आवेग में अन्धा बना, वह क्यो वना ? वह जड के प्रति मूर्छा ही तो थी। राम-राज्य की जो प्रशंसा की जाती है—वह क्या है ? चैतन्य शक्ति को जगाने के जितने ठोस उपाय जाते हैं तो वे सारे राज समाज में आत्मोन्मुखी परिवर्तन लाते हैं। राम-में ऐसे ही उपाय किये गये थे।

सम्यक्दृष्टि आत्मा अपने विवेक के प्रकाश में संसार के मूल को है, उसके स्वरूप को पहिचानती है एवं उसमे आत्म-सुख को बढाने वाले परिवर्तन लाने का संकल्प लेती है। तब वह आत्मा अपने निजी मूल स्वरूप की पहिचान कर उसकी अनुकृति संसार के प्राणियों में देखना चाहती है। इस चिन्तन से वह स्वयं विकासोन्मुख होती है तो संसार के मूलाधार मे भी आत्मोन्मुखी परिवर्तन लाने के भरपूर सत्प्रयास करती है।

संसार के मूल को चैतन्य पर आधारित करें !

अधिकाश लोग समझते होगे कि आत्मिक गुण एव पौद्गलिक (जड)

गुण एक होते हैं, किन्तु ऐसा नही है । शास्त्रकारो का कथन है कि पौद्‌ग- लिक गुण आत्मा को अपने मे आसक्त बनाते हैं और उनमे आसक्त बनने पर आत्मा अपने गुण भूलती है । इन्द्रिय सुख के वशीभूत होने से आत्मा अपने स्वरूप से वेभान बनती है तथा यह वेभानी बढ़ती रहती है तो आत्मा पतित बनती जाती है । आज के भाई इन्द्रिय-सुख के पीछे नाटक, सिनेमा या ठौर कुठौर अपना समय व अपनी शक्ति बर्वाद करते हैं—अपने व्यापार आदि को अनैतिक बनाते हैं—इस जीवन क्रम में तुरन्त सही परिवर्तन आना चाहिए ।

आचाराग सूत्र गहनताओ से भरा पडा है । प्रबुद्ध आत्माओ को उन्हे समझकर मूल गुणो के बारे मे गहरा अध्ययन करना चाहिये । जिन आत्माओ ने मूल स्वरूप को समझा है, उन्होने सासारिक वातावरण के समु- चित विकास पर भी सोचा है तथा आध्यात्मिक मार्ग को सबके लिये सुलभ बनाने के प्रयास भी किये हैं । आज भी उन्नतिशील आत्माए इस दृष्टि से आगे बढें ।



मन की गहरी एकाग्रता

श्री दृढरथ नृप तो पिता, नन्दा थारी माय ।
रोम रोम प्रभु मो भणी, शीतल नाम सुहाय ॥

शीतलनाथ भगवान् की प्रार्थना शीतलता एव शान्ति को अभिव्यक्त करने के लिये है । प्रभु के स्वरूप की दृष्टि से जब भव्य आत्माए चिन्तन करती हैं, तब उनके सामने अपना निज का स्वरूप अभिव्यक्त होता है । सिद्ध परमात्मा का बार-बार प्रत्येक घडी, प्रत्येक पल और प्रत्येक समय मे यदि निरन्तर चिन्तन चलता है तो आत्मा की जो छिपी हुई सिद्ध अवस्था है, वह धीरे धीरे प्रकट होती चली जाती है ।

इसलिये ज्ञानीजन का कथन है कि एक क्षण भी सिद्ध स्वरूप के चिन्तन के बिना नही जाने देना चाहिये। जितने समय तक मनुष्य दूसरे विषयो का ध्यान करता है तथा सिद्ध स्वरूप को भुला देता है, उतने समय तक वह परमात्म-स्वरूप से याने कि अपने ही आत्मस्वरूप से दूर हटता है । इस दूर हटने का स्पष्ट परिणाम यह होता है कि वह अपने आत्मस्वरूप पर कर्मों के नये नये आवरण चढाता जाता है ।

चिन्तन धारा का प्रवाह और ससार चक्र :

यह ससार का चक्र है कि मनुष्य बार बार सिद्ध स्वरूप के चिन्तन

से फिसल जाता है और उसकी चिन्तन धारा का प्रवाह संसार के अन्यान्य विषयो की तरफ मुड जाता है । जिस विषय का जिस जिस रूप में मनुष्य चिन्तन करता है, उस उस विषय के कर्मों के आवरण का उसकी आत्मा पर चढने का प्रसग उपस्थित होता है । सच पूछें तो इसी ससार चक्र के कारण आत्मा हलुकर्मी नही वन पाती है ।

कोई साधक सोचता है कि जब मैं ध्यान करने के लिये बैठता हू तो वह ध्यान कुछ व्यवस्थित नही बनता है तथा दूसरे ही क्षण उसका स्थायित्व भी टूट जाता है और निरन्तर ध्यान तो जैसे चलता ही नही है—ऐसा क्यो होता है ? साधक जब ऐसा अनुभव करने के बाद भी यह अनुसधान नही कर पाता कि ध्यान के समय ऐसी चल-विचल अवस्था क्यो होती है तो वह ध्यान करने की वृत्ति से ही उपेक्षित होने लग जाता है । इस कारण किसी भी साधक को अपनी साधना मे आने वाली किसी भी बाधा से घबरा कर नही बैठ जाना चाहिये, बल्कि उस बाधा के कारण की गहराई मे उतर कर उसे दूर करने का यत्न करना चाहिये ।

बाधा के कारण की खोज उसे अपनी ही चिन्तनधारा के प्रवाह मे करनी होगी । उसे आत्म-निरीक्षण करना होगा कि वह अपने चिन्तन और ध्यान मे पटरी पर से कहा उतरा है ? परमात्म एव आत्मस्वरूप के केन्द्र से हटकर उसकी चिन्तनधारा किस विपरीत दिशा मे बह चली है ? तब उसे वह बिन्दु नजर में आ जायगा जहा से गाडी पटरी पर से नीचे उतरी होगी । फिर उसका निश्चय दृढ होगा तो वह अपनी चिन्तन धारा को सही मार्ग पर ले आयगा ।

समस्याओ से घिरा मनुष्य और मजबूती की बात :

अपने जीवन मे मनुष्य के सामने बहुतेरी समस्याए होती हैं, जिनमें कई बार वह इतना उलझ जाता है कि चाहते हुए भी स्वरूप-चिन्तन नही कर पाता है । दृढ निश्चय की कमी वहा अवश्य होती है । किन्तु कदाचित् समस्याओ की मजबूरी भी होती है । यह मजबूरी भीतरी मजबूती के बिना कई बार इतनी घातक हो जाती है कि वह समस्याओ के दल-दल से उबर ही नही पाता । परिणाम यह होता है कि इस दल-दल मे फस कर वह और नीचे गिर जाता है तथा आत्मस्वरूप के चिन्तन से बहुत दूर चला जाता है ।

ससार की समस्याए भी मनुष्य के सामने मुह बाए खडी रहती हैं । उनका समाधान यदि सासारिक व्यक्ति नही करता है तो उसके लिये समुचित

ढंग से अपना जीवन-निर्वाह करना भी दूभर बन जाता है। किन्तु वह प्रबुद्ध चेता मनुष्य जो सिद्ध एवं आत्मस्वरूप का गहराई से चिन्तन करता है तथा सासारिक समस्याओ के समाधान का उससे अच्छा तालमेल बिठा लेता है, तो वह अपने जीवन मे सफलता भी प्राप्त कर लेता है। जरूरत इस बात की होती है कि वह अपनी मजबूरी मे उलझ न जावे तथा सासारिक समस्याओ का भी मजबूती से अनुकूल समाधान निकाल ले। ऐसी अवस्था मे वह शानदार सन्तुलन निबाह सकता है तटस्थ भाव से वह सासारिक प्रवृत्तियो मे आत्मोन्मुखी सुधार ला सकता है तथा आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग को भी निर्बाध बना सकता है।

पणिहारी का कुंभ और सन्तुलन का विवेक :

सन्तुलन के योग्य विवेक को जो भीतर विकसित कर लेता है, वह दोनो मोर्चों पर सफलता प्राप्त करता है। उसमे ऐसी कला, ऐसा अवधान पुष्ट बन जाता है कि वह स्वरूप चिन्तन को भी कभी विस्मृत नही करता। इस अवस्था के सम्बन्ध मे एक कवि ने सकेत दिया है कि यह सन्तुलन का विवेक तथा साधना का क्रम किस रूप मे एकाग्र होना चाहिए एव किस प्रकार प्रत्येक क्षण मे लक्ष्य के प्रति उन्मुख रहना चाहिये—

ज्यो पणिहारी कुभ न वीसरे,
अटवी न भूले ....

जिस प्रकार पनिहारी, पानी लाने वाली बहिन पानी के घडे पर घडा सिर पर रखकर कुए से घर की ओर आती है, उस समय वह बहिन अकेली नही रहती, कई बहिनो के साथ चलती है और वे सब आपस मे घुल-मिल कर बातें करती हुई चलती हैं। एक भरे हुए घडे पर दूसरा भरा हुआ घडा और बातो की फटकारें, मगर मजाल है कि घडो का सन्तुलन कही जरा सा भी बिगड जाय, बल्कि बीच मे उनका छोटा बच्चा रोता हुआ मिल जाय तो उसे भी बगल मे उठा लेती है। बातो बातो मे ऐसा ही प्रसग आ जाय तो प्रमोदवश दोनो हाथो से तालिया भी बजा लेती है। ये सब काम करते हुए भी उसका ध्यान एक क्षण के लिये भी घडो पर से नही हटता है। यदि घडो पर से उसका ध्यान हट जाय तो निश्चय ही घडे नीचे गिर कर फूट जाय। और बहू का घडा फूट जाय तो आप जानते है कि सास क्या कहेगी। वह कहेगी कि हे हियाफूटी, तू मन को घडो मे बराबर रखती तो घडे नही फूटते। सावधान बहूए सास का इतना सा भी उपालभ नही लेना चाहती हैं—इस वास्ते वे घड़ो के प्रति पूरे तौर से एकाग्रचित्त रहती हैं।

यह पनिहारी के कुभ का जो दृष्टान्त है, बहुत ही ज्ञानदायी है। गहराई से नजर डालें तो इसमे जीवन के समग्र विकास का रहस्य छिपा हुआ है कि ससार मे रहते हुए भी मनुष्य किस प्रकार सन्तुलन के विवेक को जागृत रखकर अपना आत्मविकास साध सकता है ? इसमे मूल रूप से रहा हुआ है मन की एकाग्रता का प्रश्न।

मन की एकाग्रता बनी हुई रहे तो हिया-फूटा काम नहीं होगा :

पनिहारी के कुभ की सुरक्षा का रहस्य उस के मन की एकाग्रता मे रहा हुआ है। यदि कही पर उसकी यह एकाग्रता टूट जाय और घड़ा फूट जाय तो उसको अपनी सास से 'हिया-फूटी' का उपालभ सुनना पडेगा। 'हिया-फूटा' का अर्थ तो आप जानते होगे कि जिसका हृदय सज्ञाशून्य हो जाय। किसी का हृदय सज्ञा-शून्य हो जाय तो फिर वह जो भी काम करेगा, निश्चय ही वह काम बिगडेगा। हिया फूटा काम किसी को नही सुहाता, मगर ऐसे काम से कोई तभी बच सकता है, जब वह अपने मन को उस काम मे एकाग्र बना ले। मन की एकाग्रता जहा जम जाती है, वहा कामयाबी मिलती ही है। पनिहारी के मन की एकाग्रता उसके कुंभ को कही भी नही गिरने देती।

आप सोचें कि मनुष्य पनिहारी की तरह मन की एकाग्रता की साधना क्यो करे ? पानी के घडो के समान मनुष्य का यह लक्ष्य है कि वह अपने आत्मस्वरूप को समझकर अपनी आत्मा को कर्म मैल से निर्मल बनाने के काम मे मन की पूरी एकाग्रता से जुटा हुआ रहे। पनिहारी को घडे सन्तुलन के साथ कुए से घर तक पहुचाने होते हैं तो मनुष्य जीवन मे अपनी आत्मा को ससार से सिद्ध स्थल तक पहुचाने का दायित्व रहा हुआ है। पनिहारी दूसरो से बातें भी करती है और हजार काम दूसरे भी कर लेती है मगर एक क्षण के लिये भी घडो को भूलती नही है। उसी प्रकार मनुष्य अपने सासारिक जीवन मे रहते हुए और ससार के हजार काम भी नही भूले, ऐसी मन की एकाग्रता जब मनुष्य दृढतापूर्वक सम्पादित कर लेगा तो उसके लिये यह आत्म-विकास का महद् कार्य कठिन नही रह जायगा।

मन को एकाग्रता के साचे मे ढाल लेने के बाद मनुष्य के सामने ससार के सभी सुख और सुविधाए आती हैं, वैभव एव विलास के साधन भी उपस्थित होते हैं, लेकिन वह उनके बीच मे भी तटस्थ भाव से चलता है और एक क्षण के लिये भी आत्मचिन्तन से दूर नही हटता। सासारिक सुख के सामने वह अपने मन की गतिविधि को बिगाडता नही हैं बल्कि मन की

साधना के क्रम को बनाये रखता है । मन की एकाग्रता जब बनी हुई रहती है तो 'हिया-फूटा' काम तो नही होता सो नही ही होता है बल्कि एकाग्र मन का साधक अपनी आत्मा का विकास सहज ही मे साध लेता है ।

मन को एकाग्र कैसे रखें ?

योग साधना की दृष्टि से लोग एकाग्र ध्यान करके मन को एकाग्र बनाने का प्रयास करते हैं, किन्तु मेरा मानना है कि यदि मनोवैज्ञानिक रूप से एव भावनात्मक ढंग से मन में लक्ष्य के प्रति गहरी रुचि पैदा कर दी जाय तथा उग्र निष्ठा जगा दी जाय तो फिर एकाग्रता का अभ्यास काफी आसान हो जायगा । आप अपने गृहस्थाश्रम मे अनुभव करते होंगे कि जब आप कोई नया बिजिनेस खोलते है और उसमे कमाई की अच्छी गुंजाइश दिखाई देती है तो आप कितने एकाग्र मन से उसमे जुट जाते हैं—न वक्त का ध्यान, न खाने का खयाल । जानते है ऐसा क्यो होता है ? एक-मन होकर उस काम मे आप कैसे लग जाते हैं ? यह एकाग्रता इसी कारण जम जाती है कि आपके सामने आपका लक्ष्य साफ तौर पर खडा रहता है कि बिजिनेस को जमाना है और ज्यादा से ज्यादा नफा कमाना है । दुनिया के नफे से बढकर आत्मा का नफा होता है जो आपको मोक्ष तक ले जा सकता है । अगर आप आत्मा के लक्ष्य को अपने सामने रखकर तथा उस लक्ष्य को प्राप्त करने के काम मे उत्साह से जुट जावें तो मन की सुघड एकाग्रता का निर्माण हो सकेगा ।

मैं कहूँ कि जब तक बहिनें कुओं से पानी भर कर लाती थी, तब शायद वे मन की एकाग्रता का आसानी से अभ्यास कर लेती थी । लेकिन अब तो नल से पानी आता है अत शरीर की क्षमता भी कम हो गई है तो मन की एकाग्रता भी घट गई है । मन यदि एकाग्र और पवित्र रहता है तो उसके साथ परमात्मा का ध्यान और आत्मा का ध्यान भी जुडा हुआ रहता है । मन की एकाग्रता के साथ और अन्दर की लगन से शास्त्रो के पठन-पाठन, सन्तों के सत्सग तथा परमात्मा के ध्यान का निरन्तर अभ्यास किया जावे तो कल्याण का साधन बन जाता है ।

लक्ष्य के प्रति स्पष्टता एव लगन होने की दशा मे मन की एकाग्रता का अभ्यास बनने लगेगा । इसके साथ ही सिद्ध-स्वरूप का सदैव स्मरण करते रहना चाहिये । गृहस्थाश्रम में रहते हुए चाहे कोई खेती करता हो या अन्य घरेलू कार्य करता हो, परमात्मा के ध्यान को सदा सामने रखेगा तो धीरे-धीरे ही सही, उसकी आत्मशुद्धि होती जायगी । विशेष रूप से व्यापारीवर्ग से ऐसी

चेतना जल्दी जागनी चाहिये क्योकि यह वर्ग चतुर एव विचक्षण होता है और सदा अपने जीवन को सम्हाल कर चलने वाला होता है । किसी भी उद्देश्य के पीछे जीवट से चलने का भी इस वर्ग को अभ्यास होता है । अत मन को एकाग्र बनाने तथा एकाग्र मन से आत्मोत्थान की दिशा मे आगे बढ़ने का आदर्श अवश्य ही व्यापारी वर्ग को पहले प्रस्तुत करना चाहिये ।

मन, वचन, काया के व्यापार में मुनाफा कब होगा ?

व्यापारी वर्ग सबसे अधिक चतुर भी होता है तो उसे मुनाफे से भी सबसे अधिक लगाव होता है । व्यापारी की तो प्रतिष्ठा ही यह होती है कि बनिये का बेटा कभी भी बिना मुनाफे कोई काम नही करता । एक किस्सा है कि एक आदमी ने बनिये से टके का गुड़ मागा । बनिये को ध्यान नही रहा, उसने टके का गुड तोल दिया और ग्राहक ने जो टका फेंका था, वह गुड से चिपक गया । इस तरह गुड और टका दोनों ग्राहक के पास पहुँच गये । फिर भी वह बोला—आखिर बनिये का बेटा है, मुनाफे के बिना काम थोडे ही करता है, कुछ न कुछ तो फिर भी कमाया ही होगा । कहने का मतलब यह है कि बनिये का नाम मुनाफे के साथ जैसे जुडा ही रहता है ।

हमारे शास्त्रों मे मन, वचन एव काया की वृत्तियो को भी व्यापार का नाम दिया गया है । मन की चचलता के साथ जब ये वृत्तिया कार्यरत बनती हैं तो वे आत्मा को उसके लक्ष्य से डिगाने वाली होती हैं । इस व्यापार को आप घाटे का व्यापार ही मानेंगे । किन्तु यदि मन को एकाग्र बनाकर वह व्यापार चलायेंगे तो मन, वचन, काया से सत् प्रवृत्तियो का ही सचालन होगा और वे प्रवृत्तिया जितनी श्रेष्ठतर बनती जायेंगी, उतनी ही आत्मा की गुण स्थान स्थिति ऊपर चढती जायगी । तब वैसा व्यापार पूरा मुनाफे का व्यापार होगा ।

आप मे से कई व्यापारी होंगे । अनाज, कपडे या सोने चादी के व्यापार मे भले ही आप मुनाफा कमाते होंगे, किन्तु अपने अन्त करण के अन्दर उतर कर देखिये कि क्या आप मन, वचन एव काया के व्यापार मे भी मुनाफा कमा रहे हैं या नही ? अगर आपके इस व्यापार मे घाटा लग रहा है तो क्या आपके व्यापारी नाम को सार्थक माना जाय ? व्यापारी वर्ग की चतुराई तो इसी मे मानी जाती है कि जिसमे ज्यादा से ज्यादा मुनाफा हो, उसी काम मे वह अपना समय और अपनी शक्ति को लगाता है । मन, वचन, काया के शुभ व्यापार मे अधिक से अधिक उत्कृष्टता तक आप पहुच सकें व आत्मशुद्धि को

प्राप्त कर सकें—उससे अधिक मूल्यवान मुनाफा भला किस व्यापार मे मिल सकता है। इसके लिये आप लोगों मे जागृति आनी चाहिये कि आप मन की गहरी एकाग्रता का अभ्यास करके आत्मविकास की ओर गति करें तथा दूसरो को भी इस दिशा मे प्रेरित बनावें।

मन की गहरी एकाग्रता से जीवन बोझिल नहीं बनेगा :

मन, वचन एवं काया के योग व्यापार को जो 'कु' से 'सु' की ओर मोड लेता है, उसके जीवन मे एक आश्चर्यजनक परिवर्तन आ जाता है। जीवन मे विभिन्न सांसारिक समस्याओ का जितना बोझ महसूस किया जाता है, ममता भाव के कारण होता है। पदार्थों एव व्यक्तियो के साथ जितनी जटिल रागवृत्ति होती है, समस्याओ का बोझा उतना ही कष्टकर भी लगता है। किन्तु मन की गहरी एकाग्रता से जो परिवर्तन आता है, वह जीवन के इस बोझ और उसके कष्टो की अनुभूति से मुक्ति दिला देता है।

जब यह योग व्यापार शुभ बनता है तथा मन की एकाग्रता सध जाती है तो ममता भाव घटने लगता है तथा उसके स्थान पर एक तटस्थ वृत्ति का जन्म होता है जो विकसित होकर समता भाव का रूप ग्रहण कर लेती है। मन, वचन, काया के योग व्यापार मे समता भाव के समावेश के बाद मनुष्य सासारिक काम तो करता है किन्तु उस पनिहारी की तरह जो घडे सिर पर रखे बातें करने, बच्चे को उठाने या तालीं तक पीटने के सारे काम कर लेती है, लेकिन घडे के प्रति एक क्षण के लिये भी ध्यान को नही हटाती है। समता भाव का साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी उनमे राग-वृत्ति नही रखता है तथा कर्त्तव्य समझ कर तटस्थ भाव से उन्हें पूरे करता है तो वे कार्य उसके लिये न तो बोझिल होते हैं और न ही कष्टकर। पनिहारी के घडो की तरह प्रतिक्षण उसका ध्यान आत्मस्वरूप के चिन्तन में लगा ही रहता है।

मन की गहरी एकाग्रता से ही समता भाव की साधना सम्भव बनती और समता भाव से जीवन कर्त्तव्यनिष्ठ, हल्का तथा आनन्दकारी बनता है।

[illegible] की एकाग्रता तथा शीतलता का रसास्वादन :

आप प्रत्येक क्षण सिद्ध भगवान् को मन एव मष्तिष्क मे रखिये। आपको अपना यह मानव-जीवन सार्थक करने हेतु जो सही ज्ञान एव सही निष्ठा प्राप्त करने का यह अवसर मिला है, उस को गफलत मे गुमावें नही।

की एकाग्रता है कि
जीवनता एव
माग
कर सके—सम
पने भीतर
के रहते है।
सी समालोच
बाते है।
नाशीव
,
है तो इस
र है
व

।से बड़ी बाधा है ममता !

। पथ बीहड कटीला और पग–पग पर आपदाओ से भरा पर स्वस्थ गति से चलना सहज बात नही है। जरा–सी सावधानी मनुष्य को उस मार्ग से उथल–पुथल कर सकती चल अवस्था मे प्रभु का सम्बल ही सहायक हो सकता है। म्बल को मजबूती से पकड लेता है तो वह अपने चित्त को ्काग्र बना कर सावधानीपूर्वक आगे चल पडता है।

ा–पथ की सबसे बडी बाधा है—ममता। जब दैहिक वृत्तिया त्मा को ससार के पौद्‌गलिक सुखो की तरफ आकर्षित करके बनाती हैं तो मनुष्य के मन मे यह ममता, यह मेरापन ग्पने प्रियकारी सुखो, पदार्थों तथा व्यक्तियो के प्रति उसके मन मे ा है कि ये सब मेरे हैं और उनके अलावा दूसरो को अप्रियकारी ; प्रति वह द्वेष–बुद्धि बनाता है। राग एव द्वेप का यह चक्र ही का मूल तथा साधना–पथ का शूल होता है। इस चक्र से पक्ष– ग्रौर हिंसा का जन्म होता है जो आत्मा को अन्याय, अनीति तथा दुर्गुणो से कलकित बनाते हैं।

कवि ने आत्मा की इसी आन्तरिक समस्या का उल्लेख करते हुए ना है कि इसी ममता के कारण आर्त एव रौद्र परिणामो का जहर । ये परिणाम मन को विकृत बना देते हैं—साधना की मजबूती को के बाद आत्मा को कर्मबध की कलुषितता की ओर खीचते हैं। उस ग्रनेक प्रकार की चिन्ताए उपजती हैं। एक ओर साधक अपने पथ पर रहने की कोशिश करता है तो दूसरी ओर ये चिन्ताए उसके मन को । करती रहती हैं। ममता के बन्धन उसे उत्तेजित बनाते है। शुभ एव । परिणामो के इस सघर्ष मे वह सफल बन सकता है तो केवल प्रभु की ना के बल से। प्रभु का आदर्श जीवन जब उसके सामने स्पष्ट होता है तो से वह प्रेरणा ग्रहण करके इस ममता से लडता है और अपनी सजग चारणा मे तटस्थता लाता है। तब तटस्थ भावो को मजबूत बना कर वह मता को अपने जीवन मे समा लेने का शुभ प्रयास करता है।

।मता की मार से आदि अनुभावों नाश

जीवन मे से वडा रूप लेता हुआ फैलता है तो वह आदि ता है। ममता की

ममता की मार : समता का सुख

जय जय जिन त्रिभुवन धणी, करुणानिधि करतार........

आर्त रौद्र परिणाम-थी, उपजे चिन्ता अनेक ।
ते दुख कापो मानसिक, आपो अचल विवेक ।।
रागादिक क्षुधा तृष्णा, शस्त्र अस्त्र प्रहार ।
सकल शरीरी दुःख हरो, दिल सू विरुद्ध विचार ।।

शीतलनाथ परमात्मा के पवित्र चरणो मे कवि ने अपने हार्दिक भावो के पुष्प चढाये हैं । भव्य आत्माए जब साधना के मार्ग पर आगे बढने का प्रयास करती हैं तो वे उस मार्ग मे आने वाली आपत्तियो एवं कठिनाइयो का पहले ही अनुमान कर लेती हैं तथा उनसे सफल संघर्ष करने की तैयारी मे जुट जाती हैं । किन्तु जब प्रयत्न करने मे भी कठिनाई आती है एव उस कठिनाई का जब अन्य तरीको से निवारण नही होता है, तब नि सकोच प्रभु के चरणो मे अपने दु ख की बात कही जाती है । इस दृष्टि से प्रभु की प्रार्थना एक ऐसे सम्बल का काम देती है, जो निराशा के घने बादलो को चीर कर आशा का सूर्य उगा देती है । प्रार्थना प्रभु का स्वरूप सामने रहने के लक्ष्य की ओर आगे बढाती है तथा बीच की आपत्तियो को दूर हटाने का साहस प्रदान करती है । प्रार्थना ममता की मार से बचाती है तो समता के सुख की प्रदाता बनती है ।

साधना-पथ की सबसे बड़ी बाधा है ममता !

साधना का पथ बीहड कटीला और पग-पग पर आपदाओ से भरा हुआ होता है। उस पर स्वस्थ गति से चलना सहज बात नही है। जरा-सी भी कमजोरी या असावधानी मनुष्य को उस मार्ग से उथल-पुथल कर सकती है। ऐसी चल-विचल अवस्था मे प्रभु का सम्बल ही सहायक हो सकता है। मनुष्य जब इस सम्बल को मजबूती से पकड लेता है तो वह अपने चित्त को पुन साधना मे एकाग्र बना कर सावधानीपूर्वक आगे चल पडता है।

साधना-पथ की सबसे बडी बाधा है—ममता। जब दैहिक वृत्तिया एव इन्द्रिया आत्मा को ससार के पौद्गलिक सुखो की तरफ आकर्षित करके उनमे विमुग्ध बनाती हैं तो मनुष्य के मन मे यह ममता, यह मेरापन जागता है। अपने प्रियकारी सुखो, पदार्थों तथा व्यक्तियो के प्रति उसके मन मे राग पैदा होता है कि ये सब मेरे हैं और उनके अलावा दूसरो को अप्रियकारी मानकर उनके प्रति वह द्वेष-बुद्धि बनाता है। राग एव द्वेष का यह चक्र ही सासारिकता का मूल तथा साधना-पथ का शूल होता है। इस चक्र से पक्ष-पात, वैर और हिंसा का जन्म होता है जो आत्मा को अन्याय, अनीति तथा दुष्टता के दुर्गुणो से कलकित बनाते हैं।

कवि ने आत्मा की इसी आन्तरिक समस्या का उल्लेख करते हुए सकेत दिया है कि इसी ममता के कारण आर्त एव रौद्र परिणामो का जहर फैलता है। ये परिणाम मन को विकृत बना देते हैं—साधना की मजबूती को डिगाने के बाद आत्मा को कर्मबध की कलुषितता की ओर खीचते हैं। उस समय अनेक प्रकार की चिन्ताए उपजती हैं। एक ओर साधक अपने पथ पर टिके रहने की कोशिश करता है तो दूसरी ओर ये चिन्ताए उसके मन को डगमग करती रहती हैं। ममता के बन्धन उसे उत्तेजित बनाते हैं। शुभ एव अशुभ परिणामो के इस सघर्ष मे वह सफल बन सकता है तो केवल प्रभु की प्रार्थना के बल से। प्रभु का आदर्श जीवन जब उसके सामने स्पष्ट होता है तो उससे वह प्रेरणा ग्रहण करके इस ममता से लडता है और अपनी सजग विचारणा मे तटस्थता लाता है। तब तटस्थ भावो को मजबूत बना कर वह समता को अपने जीवन मे समा लेने का शुभ प्रयास करता है।

ममता की मार से आत्मिक अनुभावों का सर्वनाश

जीवन मे ममता का विष-वृक्ष जब बडे से बडा रूप लेता हुआ फैलता है तो वह आत्मिक गुणो को नष्ट करता हुआ फैलता है। ममता की

मार से मनुष्य पशु बनता जाता है । सभी धर्मों ने इस मनुष्य-जीवन को अमूल्य इसीलिये कहा है कि इसी जीवन मे ऊची से ऊची साधना सफल बनाई जा सकती है । मनुष्यता के अनुभाव को भी इसी कारण एक आत्मिक गुण माना गया है । मनुष्य अपनी साधना से जब समता की स्थिति प्राप्त कर लेता है तो उसमे उस देवत्व का विकास हो जाता है जो मोक्ष की दिशा मे गति कराता है । किन्तु यह ममता मनुष्य को अपने मनुष्यत्व से ही पतित नही बनाती, बल्कि उसे पशुत्व के ओछेपन मे घसीट कर क्रूर एव हिंसक बना देती है ।

जहा तक ममता के व्यक्तिगत प्रभाव का प्रश्न है, यह अपने सकुचित घेरो मे बन्द करके व्यक्ति के जीवन को निकृष्ट बना देती है । किन्तु यह व्यक्तिगत प्रभाव जब सामूहिक रूप लेता है तो जाति भेद, सम्प्रदाय भेद, समाज भेद और राष्ट्र भेद पैदा करता है, जिनके जहरीले वातावरण मे उपद्रवो तथा युद्धो की सर्वनाशी लीला उपस्थित होती है। ऐसी स्थिति को ममता के विशाल विषवृक्ष की उपमा दी जा सकती है, जिसकी विनाशकारी छाया मे आत्मिक अनुभावो का सर्वनाश सा होने लगता है ।

यह ममता सम्पत्ति से लेकर जब सत्ता तक दौड लगाती है और मनुष्य जब ममता की मार से मर्माहत होकर अपनी आत्मिक सुध-बुध खो देता है, तब व्यक्ति की समस्याए तथा सामूहिक परिस्थितिया भयानक रूप ले लेती हैं । आप अपने चारो ओर नजर दौडावें तो दिखाई देगा कि सम्पत्ति की ममता मे कई बार निकट सम्बन्ध भी छोटे और झूठे हो जाते हैं । भाई-भाई और पिता-पुत्र तक ममता की चपेट मे आ जाते हैं तो अपना कर्त्तव्य या सम्बन्ध ही नही भूल जाते बल्कि एक दूसरे के खून के प्यासे तक बन जाते हैं । यह मान लीजिये कि जीवन मे ममता-भाव की जितनी प्रबलता है, वह आत्मिक अनुभावो को नष्ट करने वाली है – उन्हे विकृत बनाने वाली है।

अशुभ वृत्तियों एवं शुभ वृत्तियों का संघर्ष :

ममता से उत्पन्न अशुभ वृत्तिया जब एक साधक के मन पर हावी हो जाती हैं और उसे अपनी गति के प्रति चिन्ताग्रस्त बना देती हैं, तब उसके सामने अशुभ वृत्तियो एव शुभ वृत्तियो का सघर्ष पैदा हो जाता है । चिन्ताओ से व्यथित होता हुआ वह प्रभु से निवेदन करता है कि हे प्रभु मैं आपके सन्मार्ग पर चल रहा हूँ, किन्तु मेरी इन चिन्ताओ का अन्त होना चाहिये—निश्चिन्त भाव से मन की दशा स्थिर बननी चाहिये ।

साधक की वे चिन्ताएं होती है अशुभ वृत्तिया, जो आर्त एव रौद्र परिणामो से पनपती हैं एव ममता के हिंडोलो मे बडी होती है। यह आर्त की अशुभ वृत्ति क्यो आई ? किस कारण से रौद्र का परिणाम पैदा हुआ ? जीवन के साथ शुभ एव अशुभ वृत्तिया लगी हुई हैं। ये दोनो वृत्तिया अनादि काल से घडी के इन काटो की तरह घूम रही हैं। मनुष्य का मन कभी तो शुभ वृत्तियो मे जाता है तो कभी अशुभ वृत्तियो के घेरों मे फस जाता है। दो मिनिट के लिये शुभ भावना आई तो तभी अशुभ भावना जाग जाती है।

अष्ट कर्मयुक्त आत्मा मे ये दोनो वृत्तिया बनती बदलती रहती हैं। जब अशुभ वृत्तियो का उठाव होता है तो मनुष्य के मन मे आर्त एव रौद्र ध्यान प्रबल बनते हैं। आर्त ध्यान का तात्पर्य मनोज्ञ पदार्थों की तरफ आकर्षित होना तथा विमुग्ध बनकर उनको पकडने का प्रयास करना है। अमुक सयोग की कामना की, वह नही जुटा तो आर्त-ध्यान पैदा हुआ। पुत्र की लालसा की चिन्ता हुई। पुत्र की प्राप्ति तो हुई, किन्तु पुत्र योग्य नही निकला तो फिर चिन्ता व्याप्त हुई। पुत्र कष्ट देने लगा तो चिन्ता और भडकी कि यह पुत्र कब मेरे से दूर हटे तो शान्ति मिले। आर्त-ध्यान के परिणाम इस तरह ममता के ऊचे नीचे थपेडो मे जोर पकडते रहते हैं।

मनोज्ञ पदार्थो की आकाक्षा उनके प्राप्त न होने का दुःख, योग्य व्यक्तियों के सहयोग की कामना, अयोग्य व्यक्तियो का असहयोग, प्रिय पदार्थों पर राग, अप्रिय पदार्थों से द्वेष, ये सब ममता के ऐसे विषय हैं, जिनके सयोग या वियोग से अशुभ भावनाए जागती हैं तथा आर्त एव रौद्र ध्यान के घातक परिणाम मानव-मन को चिन्तातुर बना देते हैं। आर्त एव रौद्र ध्यान भारी कर्म-बध एव आत्मा की मलिनता के कारण होते हैं। मोह-ग्रस्त मनुष्य की चिन्ताए सासारिक पदार्थों के केन्द्र-बिन्दु से उठती हैं तथा उसके मन में शुभ एवं अशुभ वृत्तियो का सघर्ष छेड देती हैं।

निकाचित ममता का एक शिक्षाप्रद दृष्टान्त :

महावीर प्रभु ने जीवन की इस वृत्ति का आचाराग सूत्र में उल्लेख किया है। कहा गया है कि जो सयोग का अर्थी है, वह चाहता है कि उसे मनोज्ञ पदार्थों का अच्छा से अच्छा सयोग मिले, अर्थ सचय हो और अगर वैसा नही होता है तो वह उनकी प्राप्ति के लिये तिलमिलाने लगता है। वह सोचता है कि मेरे पास पूरा पैसा हो तो मुझे अच्छा सयोग मिलेगा। पैसा मिल गया तो क्या अच्छे सयोग के मिलने की गारटी है ? एक अरबपति सेठ

हो और उसकी पत्नी एकदम कर्कशा हो तो क्या वह पैसा उसे सुखी बना सकता है ? असाता वेदनीय कर्म का उदय होगा तो अच्छे से अच्छा सयोग भी शान्तिदायक नही बन सकेगा, लेकिन इस शास्त्रीय ज्ञान को समझे कौन ?

ममता मे मनुष्य की दृष्टि अधिकाश बाहर की ओर रहती है । वह बाह्य पदार्थों को समेटने की तृष्णा मे डूबा रहता है । उसे काल-अकाल का का भी खयाल नही रहता । एक दृष्टान्त है कि एक राजा और रानी अपने महल के झरोखे मे बैठे हुए थे । काफी रात बीत चुकी थी और रात अंधेरी थी । पिछले सात दिनो से घनघोर बरसात हो रही थी तथा नदी नाले पूर आ रहे थे । उस समय यकायक बिजली चमकी और राजा रानी दोनो ने देखा कि एक दुबला पतला बूढ़ा आदमी लकडियो का गट्ठर सिर पर लादे कीचड मे कठिनाई से चला आ रहा है । तभी रानी ने कहा—राजन्, आप तो फरमाते है कि आपके राज्य मे सब सुखी हैं, फिर यह इतना दु खी व्यक्ति कहा से आया ? बिना दु:ख के थोडी-सी लकडियो के लिये मौत के मु ह मे कौन जाता ? महाराज भी चिन्तित हुए, उसी समय प्रहरी से उन्होने उस व्यक्ति का पता लगाकर आने को कहा ।

प्रात काल राजा ने उस व्यक्ति को अपने पास बुलवाया और उसके दु ख का कारण पूछा । वह बोला—महाराज, एक बैल तो मेरे पास है, दूसरे बैल के लिये मैं इतनी कडी मेहनत कर रहा हू । मैंने सोचा कि बरसाती नदी मे काफी लकडिया बहकर आई होगी सो आधी रात मे वही गट्ठर लेकर मैं आ रहा था । राजा दया से द्रवित हुए और उन्होने तुरन्त उसे एक अच्छा बैल दिलाने का आदेश दिया । तब वह व्यक्ति बोला मुझे साधारण बैल नही चाहिये—मेरे पास के एक बैल जैसा चाहिये । यह कहकर उसने राजा को अपना बैल देखने को आमन्त्रित किया ।

राजा उसके साथ उसकी हवेली पर पहुचे । वह उन्हे अपने तहखाने मे ले गया । ज्यो ही उसने प्रकाश किया, राजा की आखें चकाचौध हो गई । माणक, मोती, पन्नो आदि रत्नों से एक बैल की आकृति बना रखी थी करोडो का द्रव्य था । उसे दिखा कर उस अर्थ लोलुप व्यक्ति ने कहा—राजन्, मुझे ऐसा दूसरा बैल चाहिये । इसके लिये ही मैं बरसती काली रात में लकडियो का गट्ठर ला रहा था । राजा तो स्तब्ध रह गया ।

सोचिये, ऐसी भीषण तृष्णा कौन जगाती है ? यही ममता—जो संसार की सारी सम्पत्ति और सत्ता को 'मेरी' बनाने पर तुल जाती है । मोह-

ग्रस्त मनुष्य को चाहे जितना मिल जाय, उसके चित्त को शान्ति मिलती ही नही है।

शुभ वृत्तियो के प्रवाह में समता की समरसता

महावीर स्वामी का उद्‌बोधन है कि ममता से विमुग्ध एव विमूढ बना व्यक्ति अर्थ का अर्थी बना रहकर कभी मुश्किल से ही सोच पाता है कि उसका जीवन कहा जा रहा है ? वह पुण्य और पाप की व्याख्याए भी भूल जाता है। उसकी दृष्टि सदा अर्थ की ओर लगी रहती है। किन्तु वैसी अवस्था मे भी जब किसी शुभ सयोग से शुभ वृत्तियो का प्रवाह उठता है तो उस आत्मा के मनोभावो मे एक नया परिवर्तन आ जाता है। ज्यो-ज्यो वह प्रवाह स्थिर गति से बहने लगता है, समता की सौख्यपूर्ण भावनाओ का उदय होता है। बीच के समय मे अशुभ एव शुभ वृत्तियो का सघर्ष चलता है, किन्तु जो मनुष्य उस सघर्ष मे अपनी आध्यात्मिकता को नहीं छोडता है, वह अशुभ वृत्तियो को हरा देता है। तब शुभ वृत्तिया ही उस की मार्गदर्शक बन जाती हैं। *शुभ वृत्तियो मे जब स्थायी रूप से मन रम जाता है, तब वह* समताधारी एव समतादर्शी बनकर समता-दर्शन का पालनकर्ता बन जाता है।

समता की समरसता प्राप्त करने के लिये ममता छोडनी पडेगी, क्यो कि ममता हटेगी तो लोभ हटेगा, तृष्णा हटेगी तथा राग-द्वेष की अशुभ वृत्तिया हटेंगी। ममता विद्वान् पर भी कैसी मार करती है—इसका एक विद्वान् का उदाहरण भी सुन लीजिये। एक राजा के दरबार मे एक दिग्गज विद्वान् भी था जो पूरी तरह धार्मिक क्रियाकाड के साथ रहता था। एक दिन राजा ने दरबार मे एक प्रश्न रखा कि पाप का बाप कौन ? जब किसी से उत्तर न बन पडा तो राजा ने अपने दिग्गज विद्वान् से पूछा। वह भी तुरन्त उत्तर न दे सका। उसने एक सप्ताह का समय मागा जो राजा ने दे दिया किन्तु चेतावनी दी कि तब भी यदि वह उत्तर नही दे सका तो फासी पर लटका दिया जायगा।

विद्वान् घबरा गया और रात को वहा से भाग निकला। पास के नगर मे पहुच कर रात्रि मे एक मकान के नीचे बैठ गया। एक सुन्दरी ने थूकने के लिये बाहर मुह निकाला और अपने मकान के नीचे चादनी रात में एक व्यक्ति को बैठे हुए देखा तो वह नीचे उतर आई। उसने दरवाजा खोल-कर पूछा—आप कौन है और यहा नीचे क्यो बैठे हुए हैं ? विद्वान् तो घबराया हुआ था, अपना परिचय देकर अपनी सारी समस्या कह गया। उसने कहा—आप ऊपर चलिये, तब विद्वान् ने उसका परिचय पूछा। उसने कहा—मैं वेश्या

हूँ। कर्मकांडी होने से उसने नाक भौं सिकोडे। वेश्या ने काफी मनुहार की और दो सोने की मोहरे दक्षिणा मे दी। विद्वान् पिघला, ऊपर गया। वेश्या ने खूब स्वागत किया, भोजन कराया और फिर प्रेम का अभिनय करके अपना झूठा पान चबाने का आग्रह किया। विद्वान् फिर अकड गये। उसने पाच सोने की मुहरें और दी। तब वे पान भी चबा गये। जब वेश्या से वे काफी घुल मिल गये तो पूछने लगे–मेरे प्रश्न का उत्तर तो बताओ। वेश्या ने कहा–मैंने उत्तर दे तो दिया है। यह आप सोने की मोहरो पर जो पिघलते रहे हैं, यही तो उत्तर है कि पाप का बाप लोभ होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो शास्त्रकारो ने बात कही, वह कितनी सही घटित होती है। ममता और लोभ से पाप का बोझ बढता है। किन्तु शुभ परिणामों एव शुभ वृत्तियों का प्रभाव बढता है तो समता का समरस प्रवाह अवश्य आत्मा को सच्चा आनन्द देता है।

समता का स्वरूप : आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक

वचन एव व्यवहार का कारणभूत होता है विचार और समता का स्वरूप भी जन्म लेता है विचारो मे। विचारो मे फैली ममता और लोभ की भावना तथा अशुभ वृत्तिया जब घटती है तो शुभ वृत्तिया उनका स्थान लेती है। ये वृत्तिया जब स्थिर एव स्थायी रूप ग्रहण करती हैं, तब विचारो मे सबके प्रति समत्व की भावना समा जाती है। ममत्व याने मेरापन अकेलेपन का–स्वार्थ का प्रतीक हैं, वहा समत्व, समानता, लोक–कल्याण एव आत्मोत्थान का प्रतीक है–एक से सबकी ओर चलने का प्रमाण है।

समता का स्वरूप सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि एक का व्यक्तित्व सब प्राणियो मे समाहित हो जाता है। फिर अपना स्वार्थ लोकहित मे तिरोहित हो जाता है। विचारो मे समायी हुई समता सम्पूर्ण वचन एव व्यवहार को समग्र जीवन मे समत्वपूर्ण बना देती है।

जीवन एकान्त रूप से व्यावहारिक एव आध्यात्मिक खडो मे पृथक् पृथक् विभाजित नही किया जा सकता है। मन, वचन, काया के योग व्यापार मे जब समता का प्रवेश होता है तो उसका सुप्रभाव व्यावहारिक क्षेत्र मे दिखाई देता है तो आध्यात्मिक में भी; इसमें भी कोई सन्देह नही कि आगामी जन्मो की नीव इसी जन्म में लगती है। यदि यह जन्म श्रेष्ठ बन जाता है तो अगले जन्म वैसे ही श्रेष्ठ बन जाते हैं। अत. इस जन्म का कल्याण पहले अपेक्षित है। इसी रूप में संसार और धर्म के क्षेत्र भी परस्पर पूरक माने

जाने चाहिये । ससार मे रहते हुए आपका व्यवहार समतापूर्ण बन गया तो उसके सुप्रभाव से ससार (परिवार, समाज, राष्ट्र, प्राणी समूह जो भी आपके सम्पर्क मे आते हैं) मे भी समतापूर्ण व्यवहार बनेगा और आध्यात्मिक क्षेत्र भी उज्ज्वल बनेगा ।

समता उत्थानगामी आत्मा का सर्वश्रेष्ठ गुण है । इस गुण की सुगन्ध जहा भी फैलेगी, वही आन्तरिक आनन्द का वातावरण बनेगा । सासारिक व्यवहार मे जितनी समतापूर्ण आध्यात्मिकता बढती है, वह ससार को अधिक नैतिक, अधिक सौजन्यपूर्ण तथा अधिक सहयोगी बनायेगी । एक समता-साधक परहित चिन्तक अधिक हो जाता है । इस दृष्टि से समता व्यावहारिक एव आध्यात्मिक दोनो क्षेत्रो मे लोक-कल्याण एव आत्मोन्मुखी प्रवृत्तियो की ओर सबको प्रेरित करेगी ।

समता का अनन्त सुख :

सम्पत्ति और सत्ता को अपने स्वार्थ के लिये अपने हाथो मे केन्द्रित करने की कुचेष्टा करने वाले व्यक्ति समझते हैं कि वे बहुत सुख का अनुभव कर रहे हैं किन्तु उनका वह सुखाभास होता है—झूठा, क्रूर और क्षणिक सुख । इसी सम्पत्ति और सत्ता को, बल्कि अपने व्यक्तित्व तक को जो सबकी सेवा मे समर्पित कर देते हैं—समताधारी एव समतादर्शी बन जाते हैं, इनका सुख अपार एव अनन्त होता है, एक सा स्थायी और स्थिर सुख। वह सुख अन्त से फूटा हुआ परम आल्हादकारी सुख होता है ।

समता के इस अनन्त सुख का रसास्वादन इसी मनुष्य-जन्म मे अपने सत्पुरुषार्थ से किया जा सकता है । प्रभु के वचनो को ध्यान मे रखकर अपने जीवन को सम्हालने की कोशिश करिये, क्योकि समता के अनन्त सुख से अनन्त शान्ति की उपलब्धि हो सकेगी ।



आराधना का माध्यम : शरीर

सुज्ञानी जीवा भजलो रे जिन इक्कीसवा ……. …
जीव अजीव वध ये तीनो, ज्ञेय पदारथ जानो ।
पुण्य पाप आश्रव परिहरिये, हेय पदारथ मानो ।।

प्रभु के पवित्र ज्ञानालोक मे आत्मोत्थान का जो मार्ग प्रशस्त हुआ है, उसी मार्ग पर चल कर यह आत्मा भी उन जैसी पवित्र अवस्था को प्राप्त कर सकती है । आत्मा का शुद्ध स्वरूप भी उसी दिव्य दृष्टि से अवगत हो सकेगा जिसके परिणाम स्वरूप प्रभु समग्र ससार को देखते हैं । वह दिव्य दृष्टि जिन माध्यमो के अवलम्बन से उपलब्ध होती है, उन माध्यमो को तथ्यात्मक दृष्टि से समझ लेना तथा फिर उनका सदुपयोग करते हुए उस निर्देशित मार्ग पर चल पडना नितान्त आवश्यक है । मार्ग की सही खोज करके उस मार्ग पर निष्ठापूर्वक गति करने से ही इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है ।

प्रचलित व्यवहार का केन्द्र क्रियाशील शरीर :

विचार एव वचन को क्रियात्मक रूप देने वाला शरीर होता है । सोचने और बोलने का परिणाम उसके अनुसार करने मे प्रकट होता है, बल्कि किसी के कार्य को देख कर ही उसके विचार एव वचन का अनुमान लगाया जाता है, क्योकि कार्य का रूप सब सरलता से समझ सकते हैं । सामान्यतया मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा बोलता है और जैसा बोलता है, वैसा करता है ।

सचाई और कुटिलाई का अनुमान भी इन तीनो की एकरूपता अथवा विभिन्नता के आधार पर किया जाता है। इस दृष्टि से शरीर का माध्यम ऐसा है, जिसकी क्रियाशीलता की दिशा जीवन के समग्र स्वरूप को व्यक्त करती है। क्रियाशील शरीर को प्रचलित व्यवहार का केन्द्र कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

जिस पुण्य के महत्त्वपूर्ण फल से शरीर का सृजन हुआ है, उसी शरीर के अन्दर मन का महत्वपूर्ण यत्र कार्य करता है और उसी शरीर के सम्बल से वचन भी अपनी शक्ति को आगे बढाता है। शरीर की क्रियाशीलता के साथ ही नेत्र सारे दृश्यो को देखते हैं, कान शब्दो का श्रवण करते हैं, जिह्वा रसास्वादन करती है, नासिका सूघती है एव त्वचा स्पर्श का अनुभव करती है। सबका प्रचलित व्यवहार केन्द्र बिन्दु शरीर है। मन और इन्द्रिया तभी तक गतिशील हैं, जब तक यह शरीर क्रियाशील है।

शरीर इससे भी ऊपर आत्म-विकास के प्रबल माध्यम एव सहायक तत्त्व के रूप मे रहा हुआ है। इस शरीर की स्थिति को भी शास्त्रकारो ने पुण्य का फल तो बतलाया ही है, लेकिन यह भी कहा है कि इसी शरीर के सदुपयोग से पुण्योपार्जन भी किया जा सकता है। इसीलिए पुण्यबध के कारणो का निर्देशन करते हुए मनपुण्य एव वचनपुण्य के बाद 'काय-पुण्य' का भी कथन किया गया है। पुण्यफल के रूप मे यह काया मिलती है तथा इससे फिर पुण्य कमाया जा सकता है। शरीरो मे मानव-शरीर सर्वाधिक समर्थ होता है कि जिसके माध्यम से ऊचे से ऊचे आचरण की आराधना करके आत्मविकास के चरम लक्ष्य तक भी पहुचा जा सकता है। मानव-तन को शास्त्रो मे इसी हेतु से दुर्लभ बताया है।

शरीर के माध्यम से धर्म की आराधना .

शरीर की क्रिया-प्रक्रियाओ से पुण्यकर्म का बध कैसे किया जा सकता है- इसका शास्त्रीय दृष्टि से ज्ञान प्राप्त किया जाय तो प्रतिक्षण प्रतिपल इस शरीर के माध्यम से धर्म की श्रेष्ठ आराधना की जा सकती है, पुण्य, सवर, निर्जरा आदि की प्राप्ति हो सकती है तथा आत्म-शुद्धि की ऊचाइयो पर पहुँचा जा सकता है। आवश्यकता इस जागृति की होती है कि प्रतिक्षण शरीर का सदुपयोग हो--सदाचरण एव सच्चारित्र्य मे इसे नियोजित रखें।

यह सत्य तो आप सबके सामने है कि शरीर नाशवान होता है। बाल्यकाल से युवावस्था आती है और शरीर मे सर्वाधिक शक्ति का सचार होता है। युवक जब वृद्धावस्था की तरफ मुडता है तो यही शक्ति शनै शनै

क्षीण होती चली जाती है। इसलिए यथासमय शरीर का धर्माराधना में पूरा-पूरा सदुपयोग कर लिया जाय तो इस माध्यम का आत्मविकास के कार्य में पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

शरीर का मूल प्रतिक्षण घट रहा है। बारह वर्ष पहले जो शरीर था, वह अब नही रहा और आज जैसा शरीर है, वह आगे के बारह वर्ष बाद नही रहेगा। वर्षा की नदी के प्रवाह की तरह शरीर के स्कन्धो का प्रवाह चलता है। वर्षा मे नदी का वेग बढता रहता है और वर्षा के बाद धीरे-धीरे उसमे क्षीणता आती रहती है। किन्तु नदी का प्रवाह जब तक वेगवान बना रहता है, उसमे से कितना ही पानी ले लिया जाय, पानी बाध के रूप मे सचित कर लिया जाय अथवा उसके बहाव से बिजली पैदा कर ली जाय—उस नदी के पानी का उपयोग किया जा सकता है। असावधानी का वातावरण हो तो नदी का प्रवाह बहता रहेगा, लेकिन इन्सान उसके लाभ से वचित रह जायगा। इसके सिवाय मनुष्य के मन मे अनीति का भाव हो तो वह उस नदी के प्रवाह मे ऐसे तत्वो का मिश्रण कर देगा, जिससे नदी का पानी गन्दा या जहरीला हो जाय और उसका कतई उपयोग न हो सके।

शरीर के सदुपयोग अथवा दुरुपयोग की स्थितियां :

नदी के प्रवाह की तरह शारीरिक शक्ति का भी प्रवाह चलता है। जब प्रवाह का वेग होता है, तब शरीर के अधिकतम सदुपयोग की स्थिति रहती है। विवेकी आत्मा उस शक्ति का सदुपयोग इसी उद्देश्य से करना चाहती है कि मन, वचन एव काया की अशुभ वृत्तियो पर रोक लगा कर उन्हे शुभ वृत्तियो एव प्रवृत्तियो में लगावे ताकि उनकी शक्ति आत्मा के मूल स्वरूप को चमकाने की दिशा मे कार्यरत बने। प्रवाह के पानी का जितना अधिक उपयोग समय पर ले लिया जायगा, उतना ही अधिक लाभ सचित किया जा सकेगा। प्रवाह बहता रहेगा और लाभ लिया जाता रहेगा। जितना आयुष्य है, उसके अनुसार शरीर तो टिकेगा लेकिन विवेक इसी बात का है कि उसका शुभ प्रयोजन के लिए अधिकतम लाभ उठा लिया जाय और वह शुभ प्रयोजन है, श्रेष्ठ धर्म की आराधना। जागृत आत्मा के नियंत्रण मे जब शरीर धर्म की आराधना मे लगता है तो वह उच्चतम पुरुषार्थ का प्रदर्शन भी कर सकता है। ऐसे पुरुषार्थ का प्रकटीकरण ही शरीर का सर्व श्रेष्ठ सदुपयोग कहा जायगा।

दूसरी स्थिति होती है आत्मा के अज्ञान की और असावधानी की। तब दृष्टि ही इस ओर सजग नही होती है कि शरीर का कैसा क्या उपयोग

हो रहा है ? शरीर अच्छे कार्य मे प्रवृत्त है तो ठीक और बुरे कार्य मे प्रवृत्त है तो ठीक--उसकी चेतना ही सोई हुई रहती है । ऐसी अस्थिरता एव अज्ञान की स्थिति आत्मा को उत्थान की ओर नही ले जा सकती है ।

किन्तु जब आत्मा अशुभ वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे डूबी हुई हो--विषय-कषाय की मलिनता के आच्छादन में पतित बनी हुई हो तो वैसी स्थिति मे शरीर का भी अधिकाशत दुरुपयोग ही होता है । मलिन आत्मा का वाहक वन कर वह शरीर भी सांसारिकता की मलिनता मे रचापचा रहता है और सारे वातावरण मे भी कष्ट एव क्लेश की मलिनता भरता रहता है ।

पहले के पुण्योदय से मानव शरीर मिला है, वह इसीलिए मिला है कि पहले शरीर का सदुपयोग किया गया था । अब आगे भी ऐसा शरीर मिले--शक्तिशाली और जागरूक शरीर मिले, उसके लिए इस जीवन मे शरीर का पूर्ण सदुपयोग धर्माराधन की दिशा मे किया ही जाना चाहिए ।

शरीर की शक्ति से आत्मा की शक्ति की ओर :

इस शरीर के स्कधो की परमाणु-पिंड की शक्ति का जितना अधिक सदुपयोग किया जा सके, उतने ही अधिक आत्म-सयम के बाध बाधे जा सकेंगे तथा आध्यात्मिक ऊर्जा उत्पादित की जा सकेगी । शारीरिक शक्ति का सदुपयोग आत्मिक शक्ति की अभिवृद्धि के रूप मे प्रतिफलित होगा । यह आध्यात्मिक ऊर्जा जब आत्मा मे केन्द्रीभूत होकर कार्यरत होती है, तब दृष्टि की दिव्यता भी प्रकट होने लगती है ।

शरीर के सचालन मे इस दृष्टि से सावधानी रखने की आवश्यकता होती है । शरीर मे शक्ति रख तो रहे ही हैं, लेकिन उसको अगर बुरे कामो के लिए सुरक्षित रख रहे हैं तो उसे शुभ कामो के लिए सुरक्षित रखना चाहिए । दिशा मे मोड़ देने की जरूरत है । शक्ति गतिमान तो है, पर वह अन्धकार की ओर दौड रही है । अन्धकार मे दौडने से अन्धकार के पुद्गल भी हाथ आने वाले नही हैं, बल्कि गहन अन्धकार में चले जाने पर वहा से निकलना ही कठिन हो जाता है । शक्ति की उसी गति को प्रकाश की तरफ मोड दें--पश्चिम की ओर न जाने देकर उसे पूर्व की तरफ ले जावें । किन्तु पूर्व के उदीयमान आलोक को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक अवयव को इस तरह सक्रिय बनाया जाय कि सारे शरीर मे उस आलोक के साथ एक नई ताजगी भर उठे ।

शारीरिक शक्ति की इस प्रकार की गति से आत्मा को नई शक्ति

मिलेगी। दोनों शक्तियां एक दूसरे से बल पाकर एक दूसरे को अधिक कार्यशील बना सकेंगी। ज्यों-ज्यो शरीर के माध्यम से आत्मा की अधिकाधिक शक्ति सम्पादित करते रहेगे, जीवन का ठोस निर्माण एक महत्त्वपूर्ण रीति से होता जायगा। तब शरीर की शक्ति का किसी भी रूप मे अपव्यय नही होगा तथा न ही उसकी कोई प्रवृत्ति लोकहित के विरुद्ध होगी, क्योकि शरीर का समस्त उपयोग आत्मदृष्टि से चलेगा।

मन, वचन एवं काया की वृत्तियों व प्रवृत्तियों का समन्वय :

किसी भी कार्य का जो बाहरी स्वरूप दिखाई देता है, उसमे मन, वचन एव काया तीनो का योग होता है। मन मे शुभ वृत्ति की मुख्यता होती है तो वह वाणी के रूप मे उस शुभता को लेकर प्रकट होती है तथा वही शुभता शरीर के कार्यों मे झलकती है। जैसे एक बहिन ने एक मास की तपस्या की तो पहले तपस्या करने की शुभ भावना उसके मन मे उठी होगी, तब उसने वचन के जरिये उस शुभ भावना को अपने आत्मीय जनो के सामने प्रकट की होगी अथवा सन्तो से प्रत्याख्यान किये होगे। फिर शरीर तपस्या मे नियोजित किया गया। उसका तपस्या करना तभी कहा जायगा या दुनिया को तभी मालूम होगा, जब वह अपने व्रत को प्रारम्भ कर देती है। यह मन, वचन एवं काया की वृत्तियो तथा प्रवृत्तियों के समन्वय का एक रूपक है।

इन तीनो माध्यमों मे जितना अधिक समन्वय बनता है, मन, वाणी तथा कार्य मे एकरूपता आ जाने से उस व्यक्ति का चारित्र्य उन्नत होता है। सच्ची श्रद्धा तथा सच्चे ज्ञान के आधार पर ऐसा उन्नतिशील चारित्र्य ही आत्मा को मोक्ष के द्वार तक ले जाता है। यह समन्वय जितना कमजोर होगा इन तीनो माध्यमो का परस्पर तालमेल नही बैठ सकेगा। शरीर को किसी धर्म कार्य मे लगाया गया है तो मन कही का कही उडाने भरता रहेगा और वचन उस प्रवृत्ति के अनुकूल निकलता है या नही—इसका भी बराबर भान नही होगा। तीनो माध्यमो की विभिन्नता मे सच्चाई का रूप निभता नही है और उस स्थिति मे कुटिलता का रग दिखाई देता है, जिससे व्यक्ति की अप्रतिष्ठा होती है।

मन, वचन एव काया की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियो मे समन्वय पैदा करना स्वय एक साधना है जो नियमित अभ्यास से सिद्ध हो सकती है।

समन्वय सिद्ध होगा आत्मनियंत्रण से :

मन, वचन एव काया का पुण्य माध्यम बनता है आत्मविकास का। तीनो शुभता मे विचरण करते रहे तो नये पुण्य का उपार्जन होता है और

उससे आत्मविकास की अधिक अनुकूल परिस्थितियां प्राप्त होने की सम्भावना बन जाती है। अगर इन तीनो का सुन्दर समन्वय सिद्ध हो जाय तो पुण्यो-पार्जन की स्थिति सहज बन सकती है। यह समन्वय सिद्ध हो सकता है आत्म-नियत्रण से। मन, इन्द्रियां और काया-ये जितने स्वच्छन्द रहेंगे-वह आत्मा की दुर्बलता का लक्षण कहलायगा। किन्तु एक जागृत एव सशक्त आत्मा इन तीनो के नियत्रण की डोरी अपने हाथ मे रखती है तथा इन को अपने विकास के दृष्टिकोण से चलाती है। इसे ही आत्मनियंत्रण कहते हैं।

आत्मनियत्रण की स्थिति मे एक माध्यम को नियत्रित करने मे दूसरे माध्यम का सकल्पपूर्वक उपयोग किया जाता है। यह काम आत्मशक्ति के द्वारा होता है। कल्पना करें कि मन कदाचित् चचल हो रहा है तथा वचनो की शक्ति भी निरर्थक रूप में मुखरित हो रही है तो आत्मा शरीर पर पहले नियत्रण कर सकती है और फिर भागते हुए मन और वचन को सम्हाल सकती है, क्योंकि शरीर की क्रियाशीलता मन और वचन के निर्देशा-नुसार नही होगी तब वे भी उस दिशा मे भागने से रुक कर यथास्थान आ जायेंगे। आत्मजागृति के साथ इन माध्यमो को अपने नियत्रण मे लेकर इन्हे शुभ कार्यों मे सफलतापूर्वक लगाने से पुण्यवानी का बध होता है।

नियत्रण-अनियत्रण का क्रम आत्मा और इन माध्यमो के बीच मे चलता रहता है, लेकिन जब आत्मा जागरूक रहती है तो वह निरन्तर सघर्ष करती हुई भी इनकी क्रियाशीलता को अपने काबू में कर लेती है। इन तीनो के बीच समन्वय भी इसी रूप मे पनपता रहता है।

काया की शुभ प्रवृत्ति से पुण्य कर्मों का बन्ध :

अपने मन की चचलता के बाद भी यदि एक विधवा बहिन कुल परम्परा की सुरक्षा के भाव से अपने शरीर पर नियत्रण कर लेती है तथा किसी प्रकार से दाग नही लगने देती है तो वह कायपुण्य का उपार्जन करती है। एक व्यक्ति अपनी साधारण आर्थिक स्थिति के साथ चलने पर भी नैतिक मार्ग को नही छोडता है तो इसमे उसके तीनो माध्यमो का सहयोग मिलता है और उस रूप मे वह पुण्य-कर्मों का बंध करता है। तीनो माध्यमो को एकाकार करके कार्य सम्पादित किया जाय तो उसका सोलहो आने फल मिलता है, लेकिन मन वचन पर समुचित नियत्रण न रह सके और शरीर को ही नियत्रण मे रख लिया जावे, तब भी कायपुण्य का बध होता है, क्योंकि काया को तो अशुभ प्रवृत्ति मे गिरने से रोक ली और उसे शुभ प्रवृत्ति मे लगा दी।

पुण्य फल इसका सोलह आने न होकर छः आने-आठ आने भले हो, मगर काया की शुभ प्रवृत्ति का शुभ फल अवश्य ही मिलेगा ।

किन्तु शरीर स्थिरतापूर्वक शुभ प्रवृत्ति मे तभी लगा रहेगा, जब मन पर भी उसी रूप मे नियंत्रण करने की चेष्टा की जायगी । किन्ही अंशो मे मन का नियंत्रण प्रमुख होता है । मन की विषमता हट जाये और वह एकाग्र होकर चले तब वचन और शरीर की विषमता टिक नही सकेगी । मन की शुभता बुनियादी तौर पर जरूरी होती है । एक साहूकार से दो व्यक्तियो ने साथ-साथ कर्जा लिया और एक ही अवधि मे उसके भुगतान की शर्त मानी । भुगतान के पहले एक व्यक्ति ने सोचा कि अगर साहूकार जबरदस्त नही होता तो उसको कर्जे की एक पाई भी नहीं चुकाता और सारी रकम हजम कर जाता । इस विवशता की भावना के साथ उसने ब्याज सहित कर्जा चुका दिया । दूसरे व्यक्ति ने सोचा कि यद्यपि साहूकार से वह जबरदस्त है, मगर लिया हुआ कर्जा चुकाने का उसका फर्ज है । यह समझ कर उसने भी ब्याज सहित कर्जा चुका दिया । बाहरी काम दोनो के एक से दिखाई दिये, लेकिन पहले व्यक्ति ने पाप-कर्म का बध किया तो दूसरे व्यक्ति ने पुण्य-कर्म का । अत. सभी माध्यमो की एकरूपता से अधिकाधिक पुण्य का सचय हो सकेगा । जितना सचय होगा, उतना ही शुभ फल प्राप्त होगा ।

शरीर पर नियत्रण अपेक्षाकृत आसान होता है, अत इसे शुभ प्रवृत्ति मे लगाये रखने का पूरा अभ्यास करने से मन और वचन को भी धीरे-धीरे नियत्रण मे लिया जा सकता है । इस कारण शास्त्रकारो ने 'कायापुण्य' की स्थिति का विवेचन किया है ।

मन, वचन, काया की समरसता से आत्मिक समता की उपलब्धि :

शास्त्रो मे सबसे पहले मन-पुण्य का कथन है । मन की प्रधानता ...न मे है और दोनो की प्रधानता काया के सचालन मे प्रकट होती है । इस कारण तीनो के बीच रही हुई अथवा आने वाली विषमता पर रोक लगानी चाहिए । तीनो माध्यमो मे समरसता बन जाय तो आत्मविकास का मार्ग निर्बाध हो जाता है । यही नही, इससे आत्मिक समता की उपलब्धि होती है ।

आराधना के माध्यम के रूप मे शरीर के महत्त्व को सभी ने स्वीकार किया है और कहा है कि 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् धर्म के साधन

के रूप मे शरीर सबसे पहले है । शरीर पर नियंत्रण नही तो धर्म की आराधना ही कौन करेगा ? एक व्यक्ति धर्मस्थान मे बैठा है, उपदेश चल रहा है किन्तु उसका मन कही बाहर भटक रहा है फिर भी शरीर के शुभ प्रवृत्ति मे लगे रहने से उसे पुण्य का बध हो सकता है ।

अधिकतम पुण्य का सचय करने और उससे आत्म-विकास का सम्पादन करने की दृष्टि से मन, वचन और काया—इन तीनो माध्यमो की क्रियाओ मे समरसता लाना आवश्यक है । इसी से पूर्ण समता की स्थिति मे पहुचा जा सकेगा ।

दान : ममत्व–त्याग का सोपान

चेतन जाण कल्याण करण को, आन मिल्यो अवसर रे ।
शास्त्र प्रमाण पिछाण प्रभु गुण, मन चचल थिर कर रे ।।
श्रेयास जिनन्द सुमर रे ·····

सास उसास विराम भजन को, दृढ विश्वास पकर रे ।
अजपाभ्यास प्रकाश हियँ विच, सो सुमरन जिनवर रे ।।
श्रेयास जिनन्द सुमर रे·· ·

कवि ने चेतन को सम्बोधित किया है कि हे चेतन, अपना कल्याण करने का सुन्दरतम अवसर आ चुका है, तू श्रेयास भगवान् का स्मरण कर । इससे तेरी आत्मा श्रेय मार्ग को प्राप्त करेगी ।

जीवन मे आत्मा के लिये दो प्रकार के मार्ग विद्यमान हे—एक श्रेय मार्ग तथा दूसरा प्रेय मार्ग । प्रेय मार्ग सासारिकता का मार्ग है, जिसका अन्तिम परिणाम दु ख और दुविधाओ के रूप मे सामने आता है और जिससे नरक एव तिर्यंच आदि गतियो मे आत्मा को भटकना पडता है । चौरासी लाख योनियो के अन्दर विभिन्न प्रकार के जो दु ख भुगतने पडते है, वह प्रेय मार्ग का ही दुष्परिणाम होता है ।

श्रेय-मार्ग ही आत्मोत्थान का मार्ग :

अनादिकाल से आत्मा जन्म-मरण के चक्र मे इसी कारण परिभ्रमण कर रही है कि उसने निष्ठापूर्वक श्रेय मार्ग का अनुसरण नही किया। यदि ऐसा अनुसरण आत्मा ने किया होता तो वह अवश्य ही मोक्ष की दिशा मे अग्रसर वन जाती। श्रेय मार्ग ही आत्मोत्थान का या आत्मकल्याण का सही मार्ग है।

शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार आत्म-कल्याण के जो मार्ग दिखाये गये हैं, उन पर आत्मा इस अलभ्य मानव जीवन मे चल कर अब भी अपना कल्याण कर सकती है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र्य की एकरूपता को मोक्ष मार्ग वताया ही है और इसी मोक्ष मार्ग की शाखाए दान, शील, तप एव भाव के रूप मे मानी गई हैं। इन चारो मे दान को प्रथम क्रम पर रखा गया है। चाहे मोक्षमार्ग कहें या श्रेयमार्ग-एक ही वात है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए इसी मार्ग पर आत्मा को अपनी साधना एव आराधना के साथ चलना होगा क्योंकि आत्मा का परम कल्याण मोक्ष प्राप्ति के रूप मे ही माना गया है। आत्मोत्थान का चरम लक्ष्य मोक्ष ही है।

दान की शास्त्रीय परिभाषा :

दान की दृष्टि पर सामान्यत सही चिन्तन नही किया जाता है। यह समझ लिया जाता है कि जो कुछ दिया जाता है, वह दान है। किन्तु वास्तव मे दिये जाने मात्र से सच्चा दान नही वनता है। दान के पीछे भावना की दृष्टि सही रूप मे होनी चाहिए। अनेक तरह के कार्य किये जाते हैं तथा उनमे कुछ न कुछ दिया ही जाता है, लेकिन दान किस भावना के साथ दिया जाता है, उसका ध्यान रखे विना दान का प्रसग नही माना जा सकता है। जवाई आये, उनको कुछ दिया, पुत्री आई उसको भी दिया, सगे-सम्बन्धियो को दिया-तो यह सब कुछ देना दान की परिभाषा मे नही आता है। दान आत्मकल्याण का प्रसग उपस्थित करने वाला होना चाहिए।

शास्त्रकारो ने दान की परिभाषा की है तथा दान के दस भेद वताये हैं। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे दान की परिभाषा दी है कि—

"अनुग्रहार्थं स्वस्योत्सर्ग दानम्।"

अर्थात् अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु के स्वत्व अथवा ममत्व का त्याग करना दान कहलाता है। उपलक्षण से परार्थ अनुग्रहार्थ भी होता है। पर के अनुग्रह के लिए पदार्थ का परित्याग किया जाय—यह अर्थ उपलक्षण से है।

मुख्य अर्थ स्वय पर ही अनुग्रह करना है जो गूढ है । सच्चा दान देकर मनुष्य दूसरे पर अनुग्रह नही करता, बल्कि स्वय पर ही अनुग्रह करता है । दूसरो पर एहसान करने के लिये कोई दान देता है या दूसरो की भलाई करने के गर्व के साथ दान देता है तो उस दान के मूल मे सही भावना का अभाव माना जायगा । अह या अभिमान जिस भावना के साथ मिलता है, वह भावना विकारी हो जाती है । यदि कोई दूसरो को अपने एहसान से लादने की भावना से दान देता है तो मान ले कि उसके मन मे शुद्धता की भावना नही है । कोई इस विकारी भावना के साथ दान दे कि आज मैं उसको दे रहा हूँ और समय आने पर उस व्यक्ति को दबाऊगा, यदि वह नही मानेगा तो मैं उससे कहूँगा कि मैंने तुम्हारे ऊपर उपकार किया और तुम आज मेरा काम नही करते । इस प्रकार की भावना रखकर जब कोई देता है तो वह दान के स्वरूप को नही समझता है ।

दान देना दूसरो पर नही, अपने पर ही अनुग्रह है ।

दान देने की भावना हृदय की शुद्धता से उत्पन्न होनी चाहिये । इसमे सौदेबाजी की विकारी भावना नही हो । इधर दान दू और उसके बदले मे वह लू, यदि किसी की दान देते समय ऐसी भावना रहती है तो वह एक दृष्टि से सौदेबाजी की भावना है । इससे आत्मशुद्धि का रूप नही बनता है। दान देते समय आत्म-कल्याण की भावना सर्वोपरि रहनी चाहिये । मन मे यह विचार रखना चाहिये कि दान देकर मैं दान लेने वाले पर कोई एहसान नही कर रहा हू बल्कि कोई एहसान है या अनुग्रह है तो मेरे अपने ऊपर ही है । इससे भी ऊपर मन मे यह भाव आना चाहिये कि दान ग्रहण करके वह व्यक्ति मेरे पर उपकार कर रहा है । वह एक प्रकार से दान नही ले रहा है, अपितु मेरी आत्मा को शुद्ध बना रहा है । इस व्यक्ति का मेरे पर एहसान है क्योंकि इस प्रकार दान लेकर वह मेरे कर्म-मैल को धोने मे सहायक बन रहा है । दान देने के समय ऐसी भावना होनी चाहिये जो मन की वृत्तियो को विनम्र बनाये रखती है ।

वस्तुत दान देना दूसरो पर नही, अपने पर ही अनुग्रह है । सोचिये कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पास जाकर उसके शरीर का मैल उतारता है—उसके शरीर को साफ करता है तो वह साफ करने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का उपकारी हुआ या नही ? एक डाक्टर स्वत एक रोगी की चिकित्सा करता है, मुफ्त दवा देता है और उसके रोग का निवारण करता है तो वह डॉक्टर

रोगी पर उपकार करता है या नही ? इस दृष्टि पर थोडा चिन्तन करिये — आप स्वय दान के आन्तरिक मर्म तक पहुच सकेंगे।

दान की शुद्ध भावना–ममत्व त्याग की परिचायिका

पर–पदार्थो को ग्रहण करने की लालसा ने इस आत्मा के स्वरूप पर आवरण डाल रखे हैं। इससे बाह्य पदार्थों पर आत्मा का ममत्व भाव बन गया है—उन पर उसकी मूर्छा भावना हो गई है। इस मूर्छा से आत्मा पर कर्मों का रोग लग गया है, क्योंकि यह ममत्व सबसे बडा रोग है। अब आपके इस ममत्व को हटाने का यदि कोई प्रयत्न करता है और उसके प्रयत्न से आपका यह रोग घटता है या हटता है तो क्या आप उसका उपकार नही मानेंगे ? आत्मा रूपी धवल वस्त्र पर ममत्व का मैल चढा हुआ है, अब उसे कोई धोता है तो वह आपका उपकारी ही तो होगा। मोह–ममत्व की स्थिति मनुष्य को चिन्ता-ग्रस्त बनाये रखती है तो उस चिन्ता को कम करने वाले के प्रति आभार ही व्यक्त किया जायगा। इसे सही मानिये कि जो व्यक्ति दान लेने के लिये किसी के सामने उपस्थित होता है तथा दान ग्रहण करता है तो वह दाता की आत्मा को धोने–शुद्ध बनाने के लिये भी उपस्थित होता है।

दान की शुद्ध भावना को ममत्व–त्याग की परिचायिका के रूप मे देखिये। ममत्व छूटता है तभी दान दिया जा सकता है। ममत्व रहने की दशा मे दान देना बनता नही चाहे फूटी कौडी का ही दान क्यो न हो ? कोई याचना करने आता है, निमित्त मिलता है, उस वक्त कोई कुछ भी देता है तो उस दान से उसका ममत्व टूटता है और आत्मा कर्म–भार से हल्की बनती है। लेने वाले का उपकार हुआ या नही, यह बाद मे सोचने की बात है लेकिन देने वाले का तो उपकार हो ही गया। दान लेने वाले ने दाता की आत्मा का मैल उतार ही दिया और जब वह दान के बदले मे किसी तरह की कामना नही रखता है, तभी वह व्यक्ति सच्चा दानी कहला सकता है।

ममत्व का शुद्ध हृदय से त्याग करने वाले दानी ही "अनुग्रहार्थं स्वस्योत्सर्गं दानम्" को सार्थक बनाते हैं। इस भावना से जो व्यक्ति दान देता है, उस दान को ही त्याग कहते हैं विसर्जन मानते हैं। सच पूछा जाय तो दान मे ममत्व त्याग का भाव मुख्य रूप से रहना चाहिये।

दान के विभिन्न भेद तथा सर्वश्रेष्ठ दान–अभयदान

विसर्जन या त्याग दान का प्रधान लक्षण है। विसर्जन का यह अभिप्राय नही होता है कि जो कुछ देना है, उसे पानी मे डाल दिया जाय। यदि कोई ऐसा करता है तो न वह दान है, न विसर्जन या त्याग। वह केवल

दिखावा हो सकता है। जहा अपने सिद्धान्त की दृष्टि से अपनी आत्मशुद्धि की दृष्टि से निमित्त और पात्र के विवेक के साथ दान दिया जाता है तो वह शुद्ध दान बनता है। निमित्त और पात्र की दृष्टि से ज्ञानीजन ने इस दान के विभिन्न भेद बताये हैं।

मुख्यत: आत्मकल्याणार्थ अभयदान और सुपात्रदान का कथन दान के दो भेदो के रूप मे आता है। अभयदान का अर्थ है कि प्राणियो को किसी भी प्रकार के भय से मुक्त करना, उन्हे पूर्णत निर्भय बनाना। अभयदान एक प्रकार से जीवन का दान कहलाता है। जीवन का दान देने वाला व्यक्ति वस्तुत सिर्फ उस प्राणी को ही अभय नही बनाने जा रहा है बल्कि वह स्वय को भी अभय बना रहा है। एक कुत्ता एक छोटे प्राणी को मुह मे दबाने जा रहा है तो वह छोटा प्राणी भीषण भय से सत्रस्त होता है। उसे ज व्यक्ति छुडा देता है, वह उसे अभयदान देता है। उसे अभयदान देने वाले व्यक्ति के मन मे पहले ही अभय का भाव आ जाता है—उसकी आत्मा शुद्ध हो जाती है और वह अनुगृहीत हो जाता है। अब जिस छोटे प्राणी पर उसने अनुग्रह किया है, उस पर अनुग्रह होता भी है और नही भी होता है। कारण वह छोटा प्राणी कुत्ते से बचकर बाद मे किसी और की चपेट मे भी आ सकता है।

इस दृष्टि से जो व्यक्ति अपनी निर्भयता एव अपनी शुद्धता को दीर्घ काल तक सुरक्षित रखना चाहता है, उसे अन्य प्राणियो को सुरक्षित एव सुखी रखने की अपनी वृत्ति तथा प्रवृत्ति को प्रबल रूप देना चाहिये। ऐसा अभय-दान अभयदाता के आत्म-कल्याण के मार्ग को निष्कंटक बना देता है।

तीर्थंकरो के आदर्श जीवन मे अभयदान की विशेषता परिलक्षित होती है। आप जानते हैं कि वे प्रवचन क्यो देते हैं? जब केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद उनका आत्मकल्याण हो चुका तो उन्हे फिर प्रवचन देने की क्या आव-श्यकता थी? यह उनका ससार के सत्रस्त प्राणियो को अभयदान था। उन्होने जगत् को आत्मकल्याण का पवित्र मार्ग बताने के लिये उपदेश दिये और शास्त्रो के मूल पाठ का सकेत दिया। यह सकेत था कि सब जीवो की रक्षा रूप दया हेतु उन्होने उपदेश दिये। अभयदान की श्रेष्ठता इस प्रकार स्वय तीर्थं-करो के आदर्श से प्रमाणित होती है।

अभयदान की श्रेष्ठता का एक मार्मिक दृष्टान्त:

अभयदान की श्रेष्ठता की घोषणा शास्त्रकारो ने इस प्रकार की है—

"दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाणं ।"

अर्थात् सब दानो मे श्रेष्ठ अभयदान है । इसका मर्म समझने के लिये एक दृष्टान्त दिया गया है ।

एक बार एक चोर फासी के तख्ते की ओर ले जाया जा रहा था । हथकडियो और बेडियो मे कसे उस चोर की सब हसी उडा रहे थे । राजा और रानी ने भी चोर को अपने महल के झरोखे से देखा । उसे देखकर रानी का दिल पिघल गया । रानी से उसका दुःख देखा नही गया । अत चोर को उस समय शान्ति पहुचाने के लिये रानी ने राजा से माग की—राजन्, आपसे मैं एक वरदान मागती हूँ । वह अभी इस रूप मे दे दें कि इस चोर को अगले चौवीस घटो के लिये प्राणदड की सजा माफ रखी जाय । राजा वचनवद्ध थे, उन्हे वह माग मजूर करनी ही पडी ।

अब बडी रानी की तारीफ होने लगी कि उन्होंने अपने हृदय की कोमलता दिखाई है । राजा के कुल चार रानिया थी । दूसरी रानी ने सोचा कि वह बडी रानी से पीछे क्यो रहे ? उसने भी राजा से आगे चौवीस घटो के लिये चोर की प्राण रक्षा का वरदान पा लिया । उसने ऊपर से चोर को खिला पिलाकर व एक लाख का द्रव्य देकर भी सुख पहुचाया । तीसरी रानी ने भी उससे आगे और चौवीस घटो के लिये चोर का प्राणदड रुकवा दिया तथा अधिक द्रव्य उसको दिया । चौथी रानी दान के मर्म को समझती थी । उसने राजा से अपने वरदान के रूप मे चोर को अभयदान देने की माग की । राजा ने चोर को अभयदान दे दिया किन्तु उस रानी ने द्रव्य आदि चोर को नही दिया । तब तीनो रानिया चौथी रानी की कजूसी की निन्दा करने लगी । इस पर चारो के बीच विवाद छिड गया । वे चारो राजा के पास निर्णय हेतु पहुँची कि किस रानी का उपकार सर्वश्रेष्ठ रहा ?

राजा चतुर थे । उन्होंने इस निर्णय के लिये उस चोर को ही न्यायकर्त्ता बना दिया । चोर ने तीनो रानियो के कृपापूर्ण व्यवहार के प्रति बहुत-बहुत आभार माना और फिर कहा—आप तीनो ने अवश्य ही मुझे अस्थायी सुख पहुचाया किन्तु चौथी रानीजी ने अभयदान दिलाकर जो मेरे सम्पूर्ण जीवन की रक्षा की है, उस आभार का कोई पार नही है । अभयदान के द्वारा मुझे नया जीवन और परम शान्ति मिली है । अभयदान चूकि जीवन दान का रूप होता है, अत. इसकी सर्वश्रेष्ठता असदिग्ध रूप से मानी गई है ।

अभयदान की मार्मिकता 'जीओ और जीने दो' में है :

संसार मे प्रत्येक प्राणी जीवन की आकांक्षा रखता है और मृत्यु से भय खाता है। जो व्यक्ति जितना दुर्बल होता है, उसको मृत्यु का भय उतना ही अधिक रहता है। जो व्यक्ति समर्थ होता है, वह अपनी सुरक्षा तो कर लेता है, किन्तु वह निबाहे तो उस पर दूसरे निर्बल प्राणियो की रक्षा का भी नैतिक और सामाजिक दायित्व होता है। किसी भी व्यक्ति या प्राणी को आप और किसी पदार्थ या सुख-सुविधा का योगदान करें, वह अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हो सकता है किन्तु आप उसके प्राणो की रक्षा करें – आक्रमण से उसे बचावें – यह उसके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। कारण, यदि जीवन बचता है तो अन्य पदार्थों या सुख-सुविधाओ का भी उपयोग है एव जीवन की सुरक्षा प्राथमिक हो जाती है।

अत. महावीर प्रभु का यह सामान्य सिद्धान्त कि 'जीओ और जीने दो' बडे गूढार्थ वाला है। आप स्वय इस प्रकार जीओ कि आपका जीवन किसी दूसरे के जीवन को किसी भी प्रकार से बाधित अथवा पीडित नही बनावे। यही नही, आप इस प्रकार जीओ कि आपके जीवन के आत्मिक गुण दूसरो के जीवन को प्रभावित करें तथा उन्हे वह आदर्श प्रदान करें कि वे भी आत्मिक गुणो की उपलब्धि की दिशा मे प्रयास-रत बने।

जीने दो का अभिप्राय यह है कि आप दूसरो के प्राणो के रक्षक बनें एव उन्हे भी जीवन की सच्ची कला सिखावें। जिस प्रकार आप अपने स्वस्थ जीवन की मर्यादाए ढालते हैं, उन मर्यादाओ की छाया मे उन्हे भी स्वस्थ जीवन की प्रेरणा दें।

'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त मे अभयदान की मार्मिकता भरी हुई है, क्योकि जो योगदान किसी की जीवन-रक्षा के काम मे दिया जाता है या मिलता है, वह अभयदान का ही एक प्रकार कहा जायगा। दूसरे सभी प्रकार के दान जहा जीवन की छोटी-मोटी सुविधाओ से सम्बन्धित होते हैं वहा अभयदान समूचे जीवन से सम्बन्धित होने के कारण स्वय ही सर्वाधिक प्रभावशाली बन जाता है।

सच्चे दान से आध्यात्मिक गुणों का विकास :

शास्त्रकारो ने बताया है कि सच्चे दान से अर्थात् दान की सच्ची भावना से आध्यात्मिक गुणो का विकास होता है। जहा दान का मूलभूत ारण ममत्व-त्याग होता है तो वह उसका प्राथमिक रूप होता है। एक ममत्व के छूटने से ही कई दुर्गुणो का नाश हो जाता है तथा कर्म-बन्धन का क्रम भी हल्का बन जाता है। किन्तु ममत्व त्याग के बाद आध्यात्मिक गुणो

का जो निरन्तर विकास होता है, वह दान का दूरगामी परिणाम होता है। ममत्व के हटने मे समत्व की सृष्टि होती है और यह समत्व व्यक्तिगत एव सामाजिक—दोनो प्रकार के जीवन को सद्‌गुणो से सम्पन्न बनाता है।

भावपूर्ण एव विनम्र दान मनुष्य की आन्तरिकता को उज्ज्वल बनाता है और आत्मिक स्वरूप को निखार कर उसे उन्नति के मार्ग पर आगे बढाता है।

दान को जीवन्त परिपाटी बनावें

हमारी सस्कृति एव सभ्यता मे दान की परिपाटी सदा से रही है, किन्तु समय-प्रवाह मे वह कोरी परिपाटी रह गई है और इसी कारण यह परिपाटी दिखावा, कीर्ति लालसा या अन्य प्रकार से विकृत भी बनती गई है। अत आज आवश्यकता है कि दान को आत्मिक गुणो से विभूषित बना कर फिर से जीवन्त परिपाटी का रूप दिया जाय।

दान मे भी अभयदान को सर्वाधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये, क्योंकि किसी के जीवन को बचाना या उसे आत्मिक गुणो से सवारना अत्यधिक शातिदायक कार्य होता है। दान का भावनात्मक प्रभाव दाता और लेने वाले—दोनो को आत्मीयता के सम्बन्ध मे बाधता है और यह आत्मीय स्नेह का बधन एक दिन समस्त विश्व को आबद्ध कर ले तो वह एक अपूर्व अवसर होगा।



विमल विज्ञान की कला

अरहनाथ अविनाशी, शिव सुख लीवो ।
विमल विज्ञान विलासी, साहव सीधो ।।
चेतन भज तू अरहनाथ ने
ते प्रभु त्रिभुवननाथ···· ···
तात सुदर्शन देवी माता
तेहनो पुत्र कहाय ' ··
क्रोड जतन करता नही पामे, एहवी मोटी माम ।
ते जिन भक्ति करो ने लहिये, मुक्ति अमोलक ठाम ।।

अरहनाथ प्रभु अविनाशी हैं । उनकी दिव्य दृष्टि तीन काल मे भी नष्ट नही होती है । कवि ने इस प्रार्थना मे उन्हें विमल विज्ञान विलासी' बताया है, जिसका अर्थ होता है कि वे सदा निर्मल एव विशिष्ट ज्ञान मे रमण करने वाले हैं । यहा विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहा गया है । किन्तु यह विज्ञान विमल है—किसी भी तरह के मैल से युक्त नही है । विमल होने से उसमे किसी भी तरह की कुत्सित वृत्ति का कोई अश नही होता है और विलास का अर्थ भी भोग से नही, बल्कि शुद्ध आत्मानन्द से लिया जाना चाहिए अर्थात्

प्रभु निर्मल विज्ञान की कला मे पारंगत ही नही हैं, अपितु उस विज्ञान के परम आनन्द मे सदा रमण करते रहते हैं।

विज्ञान का स्वरूप : लौकिक एवं पारलौकिक :

विज्ञान का अर्थ विशिष्ट ज्ञान होता है किन्तु इसके स्वरूप का अध्ययन करने की दृष्टि से इसको दो स्थितियो मे देखना होगा। ससार के जड पदार्थों की गतिविधियो एव परिवर्तनो सम्बन्धी जो विशिष्ट ज्ञान है, उसे लौकिक या भौतिक विज्ञान कहेगे। किन्तु जो विशिष्ट ज्ञान–चेतन तत्त्व के स्वरूप, विकास एव मोक्ष मे सम्बन्धित है, वह विज्ञान पारलौकिक या आध्यात्मिक कहलायेगा।

भौतिक विज्ञान एक प्रकार से स्थूल विज्ञान है जो दृश्य एव जड पदार्थों की खोजबीन करता है। प्रयोगशाला मे विविध रसायनो की सहायता से विभिन्न पदार्थों के मूल तत्त्वो तथा उनकी क्रिया–प्रक्रियाओ का पता लगाया जाता है तथा उस जानकारी के आधार पर नये–नये अनुसधान किये जाते हैं। पदार्थ मौजूद है लेकिन उनके खड–विखडन से या रूप–परिवर्तन से उनमे नई–नई क्रियाशीलता पैदा की जाती है, जिससे उनकी नई–नई उपयोगिता का विकास होता है। इसी विज्ञान के माध्यम से भौतिक पदार्थों की क्रियाए जाची जाती है तो प्रक्रियाए ढाली जाती हैं।

वहा आध्यात्मिक विज्ञान सूक्ष्म विज्ञान है जो चेतन तत्त्व के स्वरूप का अध्ययन करता है तथा जीवन–विकास की कलाओ पर प्रकाश डालता है। इसकी कोई बाहरी प्रयोगशाला नही होती। आध्यात्मिक विज्ञान की प्रयोगशाला स्वय आत्मा होती है और आत्मा का ही विकास अथवा अविकास इसका अध्ययन क्षेत्र होता है। आत्मा का मूल स्वरूप क्या है– वह स्वरूप विगड क्यो जाता है तथा उस स्वरूप को पुन निखार कर तेजस्वी कैसे बनाया जा सकता है—यह सब विवेचन इस विज्ञान मे मिलेगा।

विमलता या निर्मलता की जो स्थिति है, वह आध्यात्मिक विज्ञान में आवश्यक है और यो तो वह भौतिक विज्ञान मे भी आवश्यक है, लेकिन उसके विना भी भौतिक विज्ञान के अनुसधान सफल हो सकते है–आध्यात्मिक विज्ञान के नही। वैसे यह विमलता जब भौतिक विज्ञान मे नही रहती है तो वे अनुसधान मानवता–विरोधी तथा सहारक रूप ले लेते हैं। अत आवश्यक यह है कि आध्यात्मिक विज्ञान को इतना गतिशील तथा प्रभावशील बनाया जाय कि भौतिक विज्ञान सदा आध्यात्मिक विज्ञान से प्रभावित रहे। ऐसी दशा मे विज्ञान के इन दोनो क्षेत्रो मे निर्मलता की स्थिति का निर्वाह हो सकेगा।

निर्मलता का आधार है अन्तःकरण की शुद्धि :

भौतिक या आध्यात्मिक विज्ञान मूल रूप मे परस्पर विरोधी नही हैं। विज्ञान के इन दोनो क्षेत्रो का सचालन सामजस्यपूर्ण हो एव दोनो का परस्पर नियन्त्रणात्मक सम्बन्ध हो तो दोनो को विश्व के सर्वांगीण कल्याण की दृष्टि से सफलतापूर्वक मानव जाति एव प्राणी समूह की सेवा मे नियोजित कर सकते हैं। ऐसी अवस्था मे विमलता एक आवश्यक स्थिति बन जाती है।

विमलता या निर्मलता—चाहे आत्मकल्याण का प्रश्न हो अथवा लोक-कल्याण का, एक आवश्यक स्थिति है। यह निर्मलता मुख्य रूप से व्यक्ति के अन्त करण से सम्बन्धित है। भीतर की निर्मलता के बिना कोई भी कार्य निष्ठा-पूर्वक सम्पादित नही किया जा सकता। जहा निर्मलता होती है, वहा स्वार्थ या ममत्व नही होता और न ही आत्म-विरोधी गुण या दुर्गुण वहा पनप सकते हैं। अन्त करण जब मैला होता है याने कि दुर्भावनाओ से भरा हुआ होता है, तब दुर्बुद्धि दुष्ट कार्यों मे प्रधान रूप से प्रवृत्त होती है। यदि मन, वचन एव काया की प्रवृत्तिया दुर्भावना एव दुर्बुद्धि से प्रेरित रहती हैं तो आध्यात्मिक विज्ञान के क्षेत्र मे उसका प्रवेश ही सभव नही है। किन्तु ऐसे कलुषित अन्त करण के साथ यदि भौतिक विज्ञान के प्रयोग भी किये जाते हैं तो उनकी दिशा सत्ता-लोलुपता एव विश्वसहार की होगी।

विमलता के बिना भौतिक विज्ञान भी अधिक चल नही सकेगा, क्योकि मैला और बिगडा मस्तिष्क अणुबम बना सकता है, उस अणु की शक्ति को मानव-हित मे नियोजित नही कर सकता है। तब अणुबमो की मार दुनिया को विनाश से कब तक बचाये रख सकेगी ? गहराई से देखें तो अन्त करण की शुद्धि से निकली हुई विमलता या निर्मलता दोनो विज्ञान-क्षेत्रो के लिए एक अनिवार्य स्थिति है, जिसके बिना दोनो क्षेत्र विकृति की ओर बढते हैं क्योकि दोनो क्षेत्रो का सचालन तो मनुष्य ही करता है।

भौतिक एवं आध्यात्मिक विज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध

भौतिक एव आध्यात्मिक विज्ञान दोनो मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित हैं। स्वय मनुष्य-शरीर जड एव चेतन के मिलन का प्रमाण है तथा यह शरीर जब आत्म-कल्याण का साधन बन सकता है तो कोई कारण नही कि भौतिक विज्ञान को आध्यात्मिक विज्ञान का सहयोगी नही बनाया जा सके। दोनो प्रकार के विज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध भी इसी आधार पर समझा जाना चाहिए।

वास्तविकता यह है कि दोनो विज्ञान जब परस्पर व्यक्ति की आत्मिक निर्मलता के साथ जुड़े हुए रहेंगे तो उसके सुपरिणाम ही सर्वत्र दिखाई देंगे। सांसारिक क्षेत्र मे तब भौतिक विज्ञान चन्द सत्तालोलुप व्यक्तियो के हाथो मे न रह कर सार्वजनिक नियत्रण मे रहेगा, जिससे सार्वजनिक हितो से सम्बन्धित अनुसधान ही किये जायेंगे। ये अनुसधान भी ऐसे होगे जिनमे आध्यात्मिक विज्ञान के सफल क्रियान्वयन मे सहयोग मिलेगा। ऐसा तभी हो सकता है जब आध्यात्मिक विज्ञान का वर्चस्व भौतिक विज्ञान के क्षेत्र पर हो।

भौतिक विज्ञानवेत्ता यदि अन्त करण की शुद्धि के साथ आत्मिक लक्ष्य को लेकर भौतिक प्रयोग करें तो वर्तमान स्थिति मे सुखद परिवर्तन आ सकता है। इसके लिए भौतिक विज्ञानवेत्ता का भी प्रधान लक्ष्य आत्मशुद्धि का बनना चाहिए क्योकि आत्म-शुद्धि की अवस्था मे उसके सारे प्रयोग मानवता के हित के अनुसार ही होगे तथा अनुसधानो का एक मात्र उद्देश्य विश्व-हित बन जायगा। भौतिक विज्ञान जब ऐसे रूप मे ढाल दिया जाय तो वह भी विमल विज्ञान का ही प्रतीक बन जायगा। तब कम से कम आशिक विमलता उसका मुख्य गुण बन सकेगी।

भौतिक एव आध्यात्मिक विज्ञान को परस्पर सम्बन्धित करने वाली कोई शक्ति है तो वह यही विमलता है और इस दृष्टि से निष्कर्ष यही निकालना पड़ेगा कि व्यक्ति-सुधार का कार्य मुख्य है। यदि व्यक्ति अपने अन्त करण से निर्मल बने तो वह भौतिक विज्ञान का भी सदुपयोग कर सकता है, अन्यथा मैले अन्त करण से आध्यात्मिक विज्ञान को भी वह विकृत बना देता है।

भौतिक-विज्ञान आध्यात्मिक विज्ञान की छाया मे चले :

शुद्ध अन्त करण के साथ जब भौतिक विज्ञान के प्रयोग साधे जायेंगे तो वैसा भौतिक विज्ञान विमल विज्ञान के आशिक रूप मे आ जायगा। जिन आत्माओ का खयाल सिर्फ भौतिक विज्ञान का ही रहता है, वे भावना-शून्य वैज्ञानिक होगे और उनके हाथो मानवता का कल्याण हो—इसकी सभावना क्षीण रहती है। ऐसा वैज्ञानिक जिन आविष्कारो को दुनिया के सामने रखता है, उनके प्रति उसका यह विचार नहीं होता कि इनका दुरुपयोग होगा अथवा सदुपयोग और ये मानवता के हित मे कल्याणप्रद होगे अथवा विनाशक। सिर्फ आविष्कार करने के लिए आविष्कार करना-यह भावना शून्यता की स्थिति है तथा यह स्थिति लोकहित की दृष्टि से खतरनाक होती है।

आज ऐसे ही बहुतेरे आविष्कार दुनिया के बीच मे आ रहे हैं, जिनसे बाहरी सुख सुविधाए भले ही बढी हो, लेकिन उनसे भीतरी सुख धूमिल पड़ा

है । उनसे आध्यात्मिक स्थिति धूमिल ही नही हुई है, बल्कि यह स्थिति अधिक अधकारपूर्ण भी बनी है । मानव-मन अधिक से अधिक बाह्य पदार्थों मे उलझता है तथा उन्हे ही प्राप्त करने के लिए अपने अमूल्य जीवन को खपा डालता है । पहले के युग मे सादा जीवन था—अधिक साधन सुविधाए उपलब्ध नही थी तो पाप-प्रवृत्ति भी कम होती थी । आज साधन सुविधाए घोर विलासिता के छोर तक पहुच रही है और ये सबको समान रूप से प्राप्त नही है । इस कारण इन्हे प्राप्त करने की भारी दौड-भाग चलती है जिससे उतनी ही अधिक अनीति फैलती है । मनुष्य के मन और मस्तिष्क मे जैसे आज के भौतिक विज्ञान की विलासिता गहरी पैठ गई है और उससे उसका आध्यात्मिक विज्ञान क्षत-विक्षत हो रहा है । उसके मन मे न एकाग्रता है, न शाति । ऐसी विशृखल मनोदशा मे आध्यात्मिक विज्ञान के प्रकाश से वह दूर होता चला जा रहा है ।

इस विपरीत स्थिति को आत्मोन्नति के अनुकूल बनाने का एक मात्र उपाय यह है कि भौतिक विज्ञान आध्यात्मिक विज्ञान की छाया मे चले । यह कोई आसान काम नही है । सासारिक शक्ति मे मदहोश लोगो के दिलो को बदलना तथा भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे भी आत्मिक अनुभव को प्रमुख बनाना बहुत ही कठिन कार्य है, लेकिन जब तक ऐसा नही किया जा सकेगा, भौतिक विज्ञान का सहारक एव विलासी रूप आध्यात्मिक विज्ञान के विकास मे भी बाधाए खड़ी करता रहेगा ।

विमल विज्ञान की कला का व्यापक विकास :

जीवन के सत्य को भूल कर जब मनुष्य विषय एव कषाय की वृत्तियो मे उलझ जाता है, तभी उस का अन्त करण भी शुद्ध नही हो पाता है तथा मन भी अशात एव अस्थिर बना रहता है । आज आत्मतत्त्व के प्रति जितनी अनास्था तथा जड तत्त्व के प्रति जितनी मोहबुद्धि फैली हुई है, उसे देखते हुए यह धारणा दृढ बननी चाहिए कि चिन्तक एव कर्मठ व्यक्ति आगे आकर विमल विज्ञान की कला के व्यापक विकास मे अपना योगदान प्रस्तुत करें ।

विमल विज्ञान की कला तभी विकसित बन सकती है, जब मनुष्य इस अमूल्य जीवन को केवल मशीन नही समझे तथा इसे जीवन्त रूप देकर ात्मकल्याण का सबल साधन बनाने का सकल्प ले । समझें कि एक ापारी ने कपास लोढने की मशीन लगाई । आय का अच्छा साधन बनने से उसको लगाकर वह खुश होता है, लेकिन उसकी खुशी कब तक रहेगी ? तभी

तक, जब तक कि मशीन बिगड़ती नहीं है और ठीक से काम करती रहती है। मशीन का कोई पुर्जा टूट गया और वह वापिस नया नही मिला तो काम ही बन्द हो सकता है। वर्तमान जीवन मे भी ऐसी व्यापक वृत्ति फैल गई है कि मनुष्य अपने जीवन को भी एक मशीन मात्र मान कर उससे कमाई करता है अर्थ की ओर उसे इसी जघन्य कार्य मे खपा डालता है। मशीन जब टूट जाती है तो फिर हाथ खाली रहता है। इसी जीवन से अगर धर्म की कमाई की होती तो वह जीवन के अन्त के समय अपने आप को सम्पन्न मान सकता था।

वास्तव मे विमल विज्ञान की कला इस मानव-जीवन मे परिपूर्णता के साथ विकसित होनी चाहिए जिससे मनुष्य को अपने जीवन के अमूल्य महत्त्व का भान हो सके और उस दृष्टि से वह अपने जीवन को 'विमल विज्ञान विलासी' बना कर अविनाशी प्रभु की पद-वन्दना कर सके।

विमल विज्ञानी ही अपने जीवन का स्वयं नियंत्रक हो सकता है :

कपास की मशीन की तरह यह शरीर की मशीन भी एक दिन टूट जाती है, लेकिन उससे पहले पुर्जे भी क्षतिग्रस्त हो सकते हैं। आज की डाक्टरी विद्या हाथ पैर बिठाने से लेकर दिल और गुर्दों तक का प्रतिरोपण भले ही कर ले, किन्तु मन की मलिनता धोने या विचारो के रोग को मिटाने की होशियारी उसके पास नही है। शरीर की इस मशीन को रात-दिन ससार के विषय विकारो मे घसीटते रहोगे और जब वह विकृत मन के साथ टूटने लगेगी तो उसको सुधारने वाला कोई बाहर का इन्जीनियर नहीं मिलेगा।

जागृत बन कर अपने जीवन का नियत्रण जब तक मनुष्य अपने ही स्वय के हाथो मे नही ले लेगा, तब तक वह अपने जीवन का सदुपयोग भी नही कर सकेगा। ऐसा स्वस्थ नियत्रण विमल विज्ञानी ही कर सकता है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध होगा। वही अपने विशिष्ट ज्ञान से ऊची-नीची दशाओ मे अपने सयम को बनाये रख सकेगा। वह जीवन को उस रूप मे रखेगा कि जीवन की खराबी को वह स्वय ही दूर कर सके। जीवन के विकारो पर अगर काबू पा लिया जाय तो शरीर की कई प्रकार की व्याधिया भी स्वत ही ठीक हो जायेंगी। अधिकाश बीमारिया भी बीमार मन से ही पैदा होती हैं।

विमल विज्ञानी ही अपने जीवन का स्वय नियत्रक हो सकता है, क्योकि वह समझता है कि मानव-शरीर पैसा कमाने की मशीन के ही रूप

में काम लेने की चीज नहीं है । यह सोच कर वह इस शरीर का दुरुपयोग रोक देता है और उसे सासारिक विषय विकारो की उलझन से वाहर निकाल कर आत्मकल्याण एव लोकसेवा के मार्ग पर चलाने का सत्प्रयास आरभ कर देता है । यही उसके विमल विज्ञान का तकाजा होता है ।

जीवन को निरर्थक होने से बचावें, अविनाशी की सेवा में जावें :

यह खयाल रखिये कि मनुष्य–शरीर केवल एक मशीन के समान नही है कि उससे पैसा कमाने का ही काम लेना है । यही उद्देश्य रखा तो वास्तव में यह अमूल्य जीवन निरर्थक चला जायगा । अत आप इस शरीर को संसार के विषयो मे ही मत उलझाये हुए रखिये – इससे अविनाशी प्रभु की सेवा कीजिये; आत्मोत्थान हेतु साधना मे लगिये और जीवन को निरर्थक होने से बचाइये ।

सांसारिक उपलब्धियां प्राप्त करके आप समझ लेते हैं कि आपने बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर ली है । सफलता का यह एक महज भ्रम होता है । अगर आपने अपने जीवन को आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से तैयार नहीं किया तो कोरी इस सफलता का क्या मूल्य है ? वैज्ञानिक वडे–वडे आविष्कार करते हैं । इस युग में वे अन्तरिक्ष यान द्वारा चन्द्रमा की सतह पर भी पहुंच गये, किन्तु इस सफलता से उन्हें क्या मिला ? अगर उन्होंने सद्‌गुण–विकास के मापदंड में अपने जीवन को नहीं ढाला तो बडी से बडी भौतिक उपलब्धि उनके विकास में क्या सहायता कर सकेगी ? मधु–मक्खियां छत्ता बनाती हैं और शहद दूसरे लूट लेते हैं – मक्खियो के हाथ कुछ नही लगता । ऐसी ही दशा दुनिया की है । दुनियो वालो के लिये रात दिन पचो, अन्त मे आभार भी शायद ही मिले ।

मनुष्य अपने व्यापार आदि से लाभ कमाने की कोशिश करता है, किन्तु अपना आत्म–कल्याण करने का खयाल नही रखता है । याद रखिये, अविनाशी तत्त्व का खयाल नही रखा तो थोडे दिनों मे घिस घिसाकर ससार [illegible] खाली हाथ रवाना हो जाओगे । फिर दुनिया का सही नजारा आपके सामने [illegible]गा कि दुनिया मे अपनों के साथ भी कैसी–कैसी ठगी होती है । इसलिए [illegible]वनाशी प्रभु की सेवा मे मन लगा कर प्राप्त मानव–जीवन को सार्थक बना [illegible]जए ।

[illegible]ान की परिपक्वता से चारित्र्य–निर्माण की दिशा :

भौतिक एवं आध्यात्मिक विज्ञान का परस्पर सामंजस्य तभी बैठेगा, [illegible] आध्यात्मिक विज्ञान को प्रमुखता दी जायगी । दोनो के सामजस्य से ही

विज्ञान में परिपक्वता पैदा होगी तथा परिपक्व विज्ञान की सहायता से चारित्र्य-निर्माण के सामाजिक कार्य को पूरा बल मिलेगा।

एक व्यक्ति ने एक फकीर से पूछा—ईसा और मसूर फासी पर चढ कर भी शान्त कैसे रह सके ? फकीर ने कहा कि कहने से बात समझ मे नही आयेगी। उसने एक पानी वाला नारियल उसके हाथ मे दिया और कहा कि अन्दर से अखड गिरी निकाल दो। वह नही निकाल सका। तब फकीर ने पका हुआ सूखा नारियल दिया। उसकी उसने अखड गिरी निकाल दी। तब फकीर ने कहा—कच्चे नारियल की तरह जो ससार से चिपके हुए हैं, उनका ससार से छूटना मुश्किल होता है, जबकि महात्मा सूखी गिरी की तरह होते हैं जिनकी शान्ति मृत्यु भी भग नही कर सकती है।

वीतराग देवो ने विज्ञान की गूढता तथा चारित्र्य-निर्माण की महानता के विषय मे बहुत कुछ कहा है। आवश्यकता इस बात की है कि उनके आदर्श पर चला जाय तथा अमरता प्राप्त की जाय।



सबसे ऊपर गुणों की गरिमा

मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी,
कुभ पिता प्रभावती मैया तिनकी कुमारी ।
मा नो कू ख कन्दरा माही उपना अवतारी ।
मालती कुसुम मानवी वाछा जननि उर धारी ।।
मल्लि जिन बाल ब्रह्मचारी.. ....

परमात्मा के चरणो मे विविध प्रकार से स्तुति का प्रसग आ रहा है । नाम भी अलग-अलग हैं और प्रार्थना की पक्तिया भी अलग-अलग हैं, लेकिन भाव एक ही है कि आत्मस्वरूप विकसित होकर परमात्म-स्वरूप का वरण करे । यही परमात्मा की प्रार्थना की प्रेरणा है ।

यह मल्लिनाथ परमात्मा की प्रार्थना है । इस अवसर्पिणी काल मे मल्लिनाथ परमात्मा एक महत्त्वपूर्ण तीर्थंकर के रूप मे अवतरित हुए । चौवीस तीर्थंकरो मे वे ही एक मात्र स्त्री-तीर्थंकर हुए । श्री मल्लिकुवरी ने तीर्थंकर के पद तक अपना आत्म-विकास साधकर चतुर्विध सघ की स्थापना की तथा तीर्थ पद को सुशोभित एव प्रकाशित किया । अत मल्लिनाथ प्रभु की प्रार्थना करते समय मस्तिष्क मे इस आत्मीय स्फुरणा का आभास होता है कि आत्मा की शक्तिया किसी शरीर के चोले के माध्यम से दब नही सकती हैं । वे, जहा भी श्रेष्ठतम पुरुषार्थ होता है, प्रकट होकर ही रहती हैं । इससे यह प्रमाणित

होता है कि किसी भी प्रकार का भेद चरम विकास के आडे नही आता और सबके ऊपर गुणों की गरिमा का ही स्थान रहता है ।

चाहे स्त्री हो या पुरुष, आत्मविकास सबके लिये साध्य :

वस्त्रों की पोशाकों के समान आत्मा के लिये शरीर भी एक पोशाक ही है । जैसे आप एक कपडा फट जाने पर दूसरा कपडा बदल लेते हैं, उसी तरह आयुष्य पूरा हो जाने पर आत्मा अपने शरीर को बदल लेती हैं । शरीर आत्मा का चोला है, जो बदलता रहता है । यद्यपि पोशाकें कई प्रकार की होती हैं, किन्तु आप इच्छित रूप में ही अपनी पोशाक पसन्द करते हैं और उसे धारण करते हैं। यही स्थिति आत्मा के साथ भी है कि वह इच्छित रूप में शरीर का अपना चोला अंगीकार कर सकती है बशर्ते कि वह उस प्रकार का पुरुषार्थ करे तथा कर्म बांधे । इस जन्म का शरीर हो या अगले जन्म का शरीर, वह इच्छा के बिना नही मिलता है । शरीर की इच्छा रखने वाले ही शरीर प्राप्त करते हैं, वरना विकास की उच्चतम श्रेणियों में पहुंच कर भव्य आत्माएं शरीर की इच्छा ही समाप्त कर देती है ।

इस मानव जीवन में लिंग की दृष्टि से हम देखते हैं कि पुरुष का शरीर भी होता है तथा स्त्री का शरीर भी । दोनों के शरीर इस जन्म की कृति का फल नही होते हैं, बल्कि ये पूर्वजन्म की कृति के फल स्वरूप प्राप्त होते हैं । इस जीवन में जिस प्रकार के कार्य किये जायेंगे, उसके अनुसार कर्मों का बंधन होगा तथा उनका फल साधारणतया अगले जन्म में प्राप्त होगा ।

स्त्री या पुरुष का शरीर इस दृष्टि से पिछले जन्म के आत्म-पुरुषार्थ के फल रूप में प्राप्त हुआ है, किन्तु इस शरीर-भेद के कारण इस जन्म में आत्मविकास का मार्ग अवरुद्ध होता हो अथवा दोनों शरीरों के द्वारा पुरुषार्थ एवं साधना की गति में अन्तर आता हो, ऐसी कोई बात नही है । चाहे स्त्री का शरीर हो या पुरुष का, आत्मविकास दोनों के लिये समान रूप से साध्य होता है तथा मल्लिनाथ प्रभु इस सत्य के आदर्श उदाहरण हैं ।

नारी अबला नही, समान रूप से सबला होती है !

शारीरिक चिह्न की दृष्टि से जब पुरुष का शरीर दिखता है तो उसे पुरुष के नाम से सम्बोधित किया जाता है और इसी तरह जब नारी की आकृति दिखती है तो उसे नारी कहते हैं । यह शरीर-बोध की स्थिति है । [illegible] पुरुषों [illegible] में नारियों के विषय में विभिन्न [illegible] की कल्पनाएं [illegible] के लोग [illegible] कि नारी तो अबला होती है, वह अपने आप

पर कुछ भी नही कर सकती है। मल्लिनाथ भगवान् का जीवन पुरुषो के ऐसे सोचने को गलत साबित करता है, बल्कि स्पष्ट घोषणा करता है कि नारी अबला नही, पुरुष के समान ही वह पूर्ण रूप से सबला होती है।

तीर्थंकर देवो ने नारी को कही भी अबला रूप मे घोषित नही किया है, वरन् प्रसग आने पर स्पष्ट किया है कि नारी कितनी सबला होती है। श्री मल्लि प्रभु ने स्वय तीर्थंकर पद तक अपना आत्म-विकास करके नारी के बल का एक अपूर्व आदर्श उपस्थित किया है।

मल्लिकुमारी एक राजकन्या थी। प्रारभ से उस राजकन्या ने सभी क्षेत्रो मे अपने असीम प्रभाव का दृश्य उपस्थित किया था। शरीर से वे अनन्य सुन्दरी थी तो सद्गुण सम्पन्न एव अमित प्रतिभाशाली भी थी। जब एक साथ छ मदोन्मत्त राजा अपने सैन्यबल के साथ मल्लिकुमारी से विवाह करने के लिये पहुचे और उन्हे समझाना कुभ राजा के लिये भी अशक्य हो गया, तब जिस सूझ-बूझ एव आत्मिक शूरता से मल्लिकुमारी ने उन छ राजाओ को सम्बोधित किया, वह एक अपूर्व घटना है। नारी का बल पुरुषो पर इस आश्चर्यजनक रीति से प्रदर्शित हुआ कि उन पागल राजाओ के विकारो का ही शमन नही हुआ, बल्कि वे सभी मल्लिकुमारी की दीक्षा के साथ ही स्वय भी दीक्षित हो गये।

कामोन्मत्त राजाओ को जिस साहस, बुद्धि एव कला से मल्लिकुमारी ने प्रतिबोधित किया-वह अनुपम उदाहरण है। स्वर्ण प्रतिमा एव पुतली-घर का जिस विधि से निर्माण कराया गया तथा उससे एक साथ सभी राजाओ को नारी रूप की आन्तरिक स्थिति से परिचित कराया, वह घटना मल्लिकुमारी के अपूर्व बुद्धि कौशल पर प्रकाश डालती है। फिर उन्होने साहस के साथ सभी राजाओ को उनकी अनियत्रित विकारी प्रवृत्ति के लिये बुरी तरह से फटकारा। एक नारी के तेज से अपने को पराक्रमी मानने वाले वे पुरुष पराजित हो गये।

नारी की अवमानना नहीं, गुणों की गरिमा का प्रश्न :

धार्मिक क्षेत्र मे भी जहा बहिनो की शक्ति वर्तमान मे दृष्टिगत होती है तो दिमाग की ताकत लगाकर कुछ विचित्र तर्क प्रस्तुत की जाती है। यह प्रश्न भी प्रस्तुत किया जाता है कि पचास वर्ष की दीक्षित साध्वी के लिये एक दिन के दीक्षित साधु को वन्दन करने का प्रावधान क्यो रखा गया है? क्या इस वन्दन के प्रावधान से स्त्री के गुणो का अवमूल्यन नही किया जाता है?

क्या एक दिन के दीक्षित साधु में इतने गुण समा गये कि उतने गुण पचास वर्ष की दीक्षिता साध्वी के जीवन में नहीं समा सके ? ये प्रश्न कुछ टेढे हैं और कई लोग उलझन में पड जाते हैं। कई यह भी कह देते हैं कि विधान बनाने वाले पुरुष थे सो उन्होंने पुरुष वर्ग की प्रतिष्ठा को ऊपर रखा तथा इस प्रकार नारी की अवमानना की। लेकिन वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। वास्तविक दृष्टिकोण उससे भिन्न है।

धार्मिक परम्पराओं का जो कुछ विधान सामने है, वह नारी की अवमानना के रूप में नहीं है, बल्कि गुणों की गरिमा के साथ है। इस गरिमा को समझने के लिये केवल वर्तमान को ही देखने से काम नहीं चलेगा, इसके साथ ही भूत एवं भविष्य पर भी दृष्टिपात करना होगा। इस दृष्टिपात में गम्भीर मनन का होना भी आवश्यक है।

भूतकाल में इस आत्मा ने जो शुभ एवं अशुभ कर्मों का बंध किया था, उसका फल वर्तमान में यह आत्मा भोगती है। इसी प्रकार यह आत्मा वर्तमान में जिस रूप में शुभ एवं अशुभ कर्मों का बंध करती है, उसका फल उसे भविष्य में भोगना पडेगा। भूतकाल में, कल्पना करें कि एक आत्मा ने असातावेदनीय कर्म का बंध किया, किन्तु वर्तमान के जीवन में वह आत्मा सबको साता पहुंचाती है और कहीं भी अशुभ कार्य में प्रवृत्त नहीं होती है, फिर भी भूतकाल के असातावेदनीय कर्म का फल तो वेदना और पीडा के रूप में उसको वर्तमान में भुगतना ही पडेगा। अब उस पीडा को भुगतते समय वह सोचे कि उसने सबको साता पहुंचाई है, फिर उसको ही यह असाता क्यों हुई ? इस उलझन का निराकरण उसको इस चिन्तन से ही मिलेगा कि यह पूर्वभव के कर्म बंध का फल है जो अब प्रकट हो रहा है। उसने वर्तमान जीवन में सबको जो साता पहुंचाई है, उसका सुखद फल उसे भविष्य में प्राप्त होगा।

इस विश्लेषण पर थोडा गहरा चिन्तन करें। साध्वी का जो साधु को वन्दन करने का विधान है, वह वर्तमान पिंड के साथ है। यह वर्तमान शरीर जो मिला है, वह पूर्व कर्मों का फल है तथा इस वर्तमान जीवन में पाने वाली शुभ वृत्तियां एवं प्रवृत्तियां भविष्य में अपना फल देंगी। पूर्वजन्म में जिस आत्मा ने पुरुष योनि के कर्म सम्पादित किये, उसके फलस्वरूप उसे वर्तमान में पुरुष शरीर मिला तथा इसी प्रकार स्त्री योनि के कर्मों के उपार्जन से संसार में स्त्री का शरीर मिला। वर्तमान का यह शरीर, पिंड या नाना

पूर्वजन्म की करणी से प्राप्त हुआ है । अब यह विचारणीय विषय है कि किस-किस प्रकार के कर्म बंध से पुरुष, स्त्री या अन्य शरीर की प्राप्ति होती है?

शुभ कर्मों के बंध मे भी श्रेणीभेद होता है और जिस प्रकार की रचना पुरुष व स्त्री शरीरो की है, उनसे यह निश्चित है कि पुरुष शरीर श्रेष्ठतर है—शक्ति एव क्षमता की सामान्य दृष्टि से भी । अधिक गुणो के उपार्जन से अधिक शुभ कर्मों का बंध होता है तो पुरुष शरीर का कर्म-बंध निश्चय ही गुण गरिमा पर आधारित है ।

सबसे ऊपर गुणों की गरिमा प्रतिफलित होती है ।

शास्त्रकारो ने मोह के भेदो के अन्तर्गत तीन भेद मुख्य रूप से बताये हैं—पुरुष वेद, स्त्री वेद तथा नपुसक वेद । इन तीनो के लक्षणो का भी उल्लेख किया गया है, लेकिन इन लक्षणो के कारणो की जानकारी करने के लिये भूतकाल मे जाना होगा । वर्तमान मे बिना इसके इन तीनो वर्गों का बयान कैसे किया जा सकता है ? भिन्न-भिन्न लिंग के शरीर वर्तमान मे उप-लब्ध है, किन्तु इनकी आज की उपलब्धि का कारण अवश्य ही भूतकाल मे रहा हुआ है ।

मोह दशा का अन्तर समझाते हुए बताया गया है कि एक अग्नि तृणाग्नि होती है जो जल्दी लगती और जल्दी ही बुझ जाती है । उसके बाद पारेशाग्नि होती है—छाणो की आग, जो जलने और बुझने मे तृणाग्नि से अधिक समय लेती है। जिस आत्मा ने अपनी मोह दशा को पूर्वभव मे तृणाग्नि के समान हल्के रूप मे रखा, उसने इस जन्म मे पुरुष-शरीर को प्राप्त किया है । पारेशाग्नि के समान मोह दशा वाली आत्माए इस जन्म मे नारी शरीर मे उत्पन्न हुई हैं । इन दोनो से अधिक कठिन व लम्बे समय तक जलने वाली आग होती है दावाग्नि और ऐसी क्लिष्ट मोह दशा मे रहने वाली आत्माए इस जन्म मे नपुंसक लिंग को प्राप्त करती हैं । शरीर के इन तीनो रूपो मे मोहदशा के हल्के या भारीपन का तथ्य रहा हुआ है ।

जैन शास्त्रो मे सर्वत्र गुण की दृष्टि से ही मापदण्ड मानने की पद्धति रही हुई है एव गुण का मापदड मुख्य रूप से प्रधान कर्म मोह के न्यूनाधिक्य के अनुसार देखा जाता है । जिसकी मोहदशा हल्की है, वह अधिक गुणी है तथा मोहदशा का भारीपन अधिक रूप मे आत्मिक गुणो को दबाता है । मोह कर्म की चिकनाई आठो कर्मों से सबसे ज्यादा मानी गई है । अगर मोह कर्म हल्का होता है तो अन्य कर्म स्वत ही क्षीण हो जाते हैं । मोह कर्म को जो

आत्मा हल्का कर सकती है, वह केवल अपनी उच्चतर साधना के बल पर ही। उच्चतर साधना का अर्थ होता है, अधिकतर गुणों का सम्पादन। पुरुष का शरीर आगे के जन्म में मिले—इसके लिये स्त्री-शरीर की साधना से अधिक साधना की आवश्यकता होगी तो पुरुषों का शरीर अधिक गुण सम्पन्नता के कारण मिल सका है—इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ेगा। साध्वी द्वारा साधु को वन्दन करने का जो विधान है, इसके पीछे यही दृष्टि है।

गुण गरिमा की चौदह सीढ़ियां, गुणस्थान के सोपान :

गुण गरिमा अथवा आत्मोत्थान की दृष्टि से जैन दर्शन में जो सीढ़ियां बताई गई हैं, उन्हें गुणस्थान कहा गया है, जो संख्या में चौदह हैं। कर्मग्रस्त आत्मा गुणों की श्रेणी पहली सीढ़ी से चढ़कर जब पांचवीं सीढ़ी पर पहुंचती है तो उस पर श्रावकत्व की भावना पनपती है। छठे गुणस्थान में साधु वृत्ति बनती है। यहां से नवें गुणस्थान तक साधु वृत्ति है। नवें गुणस्थान से आगे मोक्ष साधना का क्रम प्रारंभ हो जाता है। स्त्री वर्ग दूसरे गुणस्थान से चलते हुए नवें गुणस्थान तक बढ़ता है। स्त्री का गुणस्थान पुरुष से हल्का माना है, इसलिये पुरुष की ज्योति अधिक मानी गई है। बड़े पद की स्थिति को लेकर शरीर पिंड के साथ वन्दन का प्रसंग जुड़ा हुआ है। वर्तमान जीवन की शक्ति का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। स्त्री वर्ग भी नवें गुणस्थान से आगे मल्लिकुमारी की तरह मोक्ष की साधना में जुट सकता है। वर्तमान में पुरुष को जो ऊपर मानने का विधान है, वह पुरुष के अभिमान की दृष्टि से नहीं बना है, बल्कि पूर्वार्जित कर्मों की ज्येष्ठता की दृष्टि से गुणों के आधार पर ही बना है। गुणों की श्रेष्ठतरता के कारण ही यह वन्दन है। जिस समय शरीर पिंड नहीं है तो उस समय चतुर्विध संघ का वन्दन उन सबको किया जाता है जो सत्ताईस गुणों से युक्त होते हैं।

पद की दृष्टि से वन्दन का महत्त्व आप व्यावहारिक दृष्टि से भी आंक सकते हैं। एक पुत्रवधू है जिसको पचास वर्ष के लगभग धर्म की आराधना करते हो गये हैं—पच्चीस वर्ष से शील व्रत पाल रही है। दूसरी तरफ उसके ससुर अठारह वर्ष की लड़की से शादी करते हैं जो न धर्म के विषय में कुछ जानती है, न शीलव्रत के बारे में। वह नई दुल्हिन सुहाग पहनती है, अब बताइये कि कौन किसका पद-वन्दन करेगी? पचास वर्ष की बीनणी अठारह वर्ष की सास का पद-वन्दन करेगी या नहीं? इसी प्रकार के उदाहरण आपको आस-पास ही मिल जायेंगे। इसे आप छोटा या बड़ा पद कहते हैं। इसी

तरह पद के प्रसग मे वय और गुण की स्थिति गौण हो जाती है ।

किन्तु मूल स्थिति मे सम्मान गुणो का ही होता है । अस्सी वर्ष के दीक्षित साधु को छोड कर योग्य और होनहार आठ वर्ष के दीक्षित साधु को आचार्य पदवी दी जा सकती है । वृद्ध गुरुजी बैठे रह जाते हैं और साधक शिष्य अपने सारे कर्म खपाकर मोक्षगामी बन जाता है । ऐसी ही स्थिति स्त्री एवं पुरुष जीवन के बीच मे भी बन सकती है । जहा आत्मसाधना द्वारा गुण अथवा गुणस्थान प्राप्ति का प्रश्न है, वहा लिंग भेद अथवा अन्य किसी भी प्रकार के भेदभाव की कोई गु जाइश नही है ।

गुण सम्पादन का भेद ही प्रमुख होता है !

पूर्वजन्म के कर्मो की स्थिति से ही वर्तमान मे प्राप्त शरीर सरचना है और यह प्राप्ति उस जन्म मे गुण सम्पादन के आधार पर हुई है । यदि गुण सम्पादन का पुरुपार्थ उस सीमा तक पहुच जाता, जिसके फलस्वरूप पुरुप नाम कर्म का बंध होता है तो इस जन्म मे पुरुप लिंग प्राप्त होता है । यदि गुण सम्पादन का वह पुरुपार्थ उस सीमा से नीचा रहा या कि मोहदशा कुछ अधिक विलप्ट रही तो उसके परिणाम स्वरूप स्त्री लिंग प्राप्त होता है । आज का जो शरीर भेद है, वह पूर्व जन्म के गुण सम्पादन के भेद के सिवाय कुछ नही है । इसी दृष्टिकोण को लेकर स्थानाग सूत्र के १० वें पद मे पुरुप का ज्येष्ठत्व बताया गया है ।

किन्तु वर्तमान जीवन मे गुण सम्पादन अथवा साधना की दृष्टि से स्त्री पुरुप मे कोई भी भेद नही किया गया है क्योकि भविष्य मे जो भी पिंड इस आत्मा को मिलेगा, वह वर्तमान जीवन के गुण सम्पादन की दृष्टि से ही मिलेगा । वर्तमान मे यह सोचा जा सकता है कि गुण की गरिमा अधिक है तो गुण की दृष्टि से वन्दन किया जाय किन्तु ऐसा तभी किया जा सकता है जब यह पिंड सामने न हो ।

वर्तमान जीवन के गुण सम्पादन में कोई भेद नहीं !

चाहे स्त्री हो या पुरुप, वर्तमान जीवन के गुण सम्पादन मे कोई भेद नही माना गया है । विशेप रूप से नारी जाति की शक्ति के कई गौरव-पूर्ण उदाहरण इतिहास मे हैं और वर्तमान मे भी सामने आते रहते हैं । नारी जाति की शक्ति की अभिव्यक्ति समय-समय पर हुआ करती है । आज महिलाओ मे जागृति आ रही है और साध्वी वर्ग भी अच्छी शक्ति सम्पादित कर रहा

है। इस विकास को देखते हुए अबला-सबला का प्रश्न गौण हो गया है। सारे देश का राजनीतिक नेतृत्त्व भी एक महिला ही कर रही है। माता के रूप में नारी के दिये हुए सस्कारो के आधार पर ही सामाजिक ढाचा ढलता है। हिंसा या अहिंसा के सस्कार देने वाली भी माताए ही होती है। वे अप्रत्यक्ष रूप से समाज निर्माता होती हैं। माताओ मे निष्ठा और शक्ति है, वे अपूर्व कार्य कर सकती हैं।

अभी विजया बहिन ने करणी माता के मन्दिर मे बलिदान बन्द कराने की बात कही है तो मेरा यही कहना है कि करणी माता मनुष्यो के साथ पशुओं की भी माता है, फिर क्या कोई माता अपनी ही सन्तान का भक्षण कर सकती है ? इस स्थिति को सबको समझावें।

सद्गुणी जीवन महकते फूल की तरह

यह मानव जीवन तभी धन्य है जबकि इसे सद्गुणो से विभूषित बनाया जाय। जैसे एक महकता हुआ फूल अपनी महक से सारे वातावरण को सुगन्धित बना देता है, उसी प्रकार एक सद्गुणी जीवन सारे ससार को अपने आदर्श की प्रेरणा देता है। अत अधिक से अधिक सद्गुणो का सम्पादन करें।



जैसा करोगे, वैसा फल पाओगे !

श्री मुनि सुव्रत साहिबा
दीनदयाल देवा तरणा देव के .. .
तरण तारण प्रभु मो भणी
उज्ज्वल चित्त समरू नितमेव के .....

परमात्मा सबका है, इसीलिये उसे याद किया जाता है । इस ससार मे परमात्म-तत्त्व से बढकर कोई भी स्मरणीय तत्त्व नही है । जो परमात्मा का स्वरूप है, मूल रूप मे वही आत्मा का स्वरूप है । आप सब भाई-बहिन अलग-अलग पोशाको मे बैठे है । किसी की कैसी पोशाक है और किसी की कैसी । यह पोशाक का फर्क है । मैं आत्मा हू, इस भाई मे भी आत्मा है, उस बहिन में भी आत्मा है । आत्मा जब सब मे है तो प्रश्न उठता है कि फिर सबमे इतना अलगाव क्यो है ?

आज की इस विषमता का मूल कहां पर है ?

आप मे से एक भाई धनवान है, उनके पास बडी हवेली है, ऋद्धि-समृद्धि है । एक भाई गरीब है, पास मे दो वक्त खाने का भी पूरा प्रबन्ध नही है । उनके पास ठीक स्थिति का झोपडा भी नही है और वे दु ख पा रहे हैं । इस विषमता के मूल की खोज करनी चाहिये ।

वर्तमान समय में पाये जाने वाले व्यवहार की दृष्टि से देखें तो यह अनुभव होगा कि समाज या राष्ट्र में जो व्यक्ति साफ सुथरा जीवन जीते हैं और आत्मनिर्भर हित के काम करते हैं, उन्हें सब अच्छा कहते हैं। उनकी यह अच्छाई उनकी लोकप्रियता का कारण बनती है। दूसरी ओर जो व्यक्ति अपना जीवन को अनीति, दुर्भावना एवं दुष्कर्मों से भरते रहते हैं तथा सदैव दूसरों को तन मन कष्ट पहुचाने की कुचेष्टाएं करते रहते हैं, उन्हें सभी बुरा कहते हैं तथा बुरे व्यक्ति सबकी उपेक्षा एवं घृणा के पात्र बनते हैं। यह व्यवहार की बात है कि अच्छा करने वाला अच्छा कहलायेगा और बुरा करने वाला बुरा। सभी अच्छे को चाहते हैं, बुरे को सभी भला-बुरा कहते हैं।

इस व्यावहारिक स्थिति से यह स्पष्ट पता चलता है कि किसी भी व्यक्ति का उसकी करनी के हिसाब से मान दिया जाता है। मान व प्रतिष्ठा अथवा अपमान व अप्रतिष्ठा मनुष्य को अपने कार्यों से मिलते हैं। मान या अपमान यह अच्छे या बुरे कार्यों पर निर्भर करता है। इसे करनी के फल के रूप में लिया जा सकता है। करना एक बात और उसका फल मिलता है मान या अपमान के रूप में। इसका यह अर्थ हुआ कि फल की प्राप्ति करने के अनुसार होती है। जैसा करना वैसा भरना।

उसका सुखद फल पा सकेंगे । आप देखते हैं कि आज जो पूरा परिश्रम करके आम का पेड लगाता है, उसे ही मीठे आम नसीब हो सकते हैं । बबूल का पेड लगाकर जो मीठे आम खाने की इच्छा करता है, क्या उसे मीठे आम प्राप्त हो सकते हैं ?

आप लोग इस शिक्षा को दिल मे उतारें । सत्सगति से ऐसी शिक्षा मिलती है और उस समय यदि ऐसी शिक्षाओ को समझ कर आप अपना आचरण बदल लें तो आगे के लिये आप अवश्य ही अच्छे फल के बीज आज बो लेंगे । आप भी कभी कल्पना करते होगे कि हम भी ऐश्वर्यशाली बनें—दूसरो को दे सकने की क्षमता वाले बनें । हम भी ज्ञानी एव चारित्र्यशील बनें ताकि अपनी आत्मा का भी कल्याण कर सकें । तो आप अपनी ऐसी कल्पना को साकार बनाने की पृष्ठभूमि का निर्माण आज ही कर सकते है । केवल कल्पना से काम नही होता—करने से होता है । काम पहले किया जाता है तब बाद मे उसका फल मिलता है ।

किन्तु कर्मण्यता का यह ज्ञान सत्सगति के बिना मुश्किल से ही मिलता है । घडी भर भी सन्त-सगत हो जाय तो दिन भर के कामो पर एक सही नियत्रण बन जाता है । सत्सगति से घोर पापियो का जीवन भी बदल कर पुनीत होते हुए देखा गया है । यह सत्सगति भी पुण्य के उदय से ही मिलती है जो आपको मिली है, किन्तु इसका लाभ नही उठा पायेंगे तो अवसर निर-र्थक चला जायगा । इसलिये भविष्य के श्रेष्ठ निर्माण के लिये आज ही सत्कर्म करना प्रारभ कर दीजिये । आगे के लिये समता के बीज बोने का समय आज है । आज की आपकी सद्भावना सदास्था तथा सत्चेष्टा कल के लिये समता-मय वातावरण की अवश्य ही सृष्टि करेगी । आने वाला कल सदा आज की ही बुनियाद पर बनता है—इस सत्य को याद रखे ।

जैसा बोवोगे, वैसा काटोगे :

किसान अपने खेत मे जैसे बीज बोता है, उसी बीज की फसल उसे काटनी होती है । वह जौ बोएगा तो जौ की फसल काटेगा और गेहू बोएगा तो गेहू की फसल काटेगा । यह नही हो सकता कि जौ बोकर उसे गेहू की फसल काटने को मिल जाय । एक व्यक्ति बचपन से प्राणियो को कष्ट पहुचावे, गरीबो को सतावे तथा हिंसापूर्ण कार्यों मे लगा रहे तो ऐसे कामो से उसके पाप कर्मों का बध होगा और जब उन पाप कर्मों का उदय आयेगा तो उसे उनका अशुभ फल भोगना ही पडेगा । अब वैसा फल भोगते समय वह हाय

विचार करे अथवा शोक-प्रलाप करे तो वह फिर उस समय भी अपनी करणी का बिगाड़ कर आगे के लिये भी अपने वास्ते दुःखदायी फल की रचना कर लेता है। दूसरी ओर फलभोग के समय जो शान्ति से बुरे फल को सह लेता है और पहले की अशुभ करणी को मालूम कर लेता है, वह उस समय शुभ करणी की राह पर आ जाता है तथा आगे के लिये शुभ फल की नींव डाल देता है।

जब पहले की अशुभ करणी के फलस्वरूप पाप का उदय आता है तो मनुष्य ऊपर नहीं उठ सकता है। चाहे वह दिन भर मेहनत करे, चोटी का पसीना एड़ी तक पहुंचावे, किन्तु पाप उसके पीछे पड़ा रहता है और उसे सुखी नहीं होने देता है। किन्तु ऐसा मनुष्य भी सन्त-संगत में आकर बुरे कार्यों से दूर रहने का संकल्प लेवे, अच्छे कामों में जुट जावे तो उसके जीवन में परिवर्तन आ सकता है तथा भविष्य भी फलदायक बन सकता है। अपने संकल्प पर उसकी जितनी दृढ़ता रहेगी, उतना ही अच्छा फल उसे मिलेगा। एक कवि ने कहा है—

बोयेगे जैसा बीज, वैसा ही लहलाएगा,
जैसा करोगे वैसा ही फल आगे आएगा।
गुम्बज में एक बार कुछ भी बोल दीजिए—
जैसा कहोगे वैसा ही वह भी सुनाएगा।

कवि ने बहुत ही शिक्षाप्रद बात कही है। यह शिक्षा अगर मनुष्य मन में जमा लेगा अपने किसी भी फल के लिये वह दूसरों को दोष देना छोड़ देगा और सारी जिम्मेदारी अपने सिर पर लेकर अपनी ही करणी को सुधारने का यत्न करेगा। जैसा बीज, वैसा फल। जैसा करोगे, वैसा परिणाम भुगतोगे। जैसी आप ध्वनि निकालेंगे, वैसी ही प्रतिध्वनि आपको सुनाई देगी। गुम्बज में आवाज करते ही वही आवाज प्रतिध्वनित होकर वापिस आपको सुनाई देती है। इसी रूप में आप भी करणी का बीज बोयेंगे, मन, वचन एवं कर्म से इस धरित्री पर समस्त प्राणियों को सुख देने की दृष्टि दिखायेंगे तो वैसा ही शुभ फल आपको आगे प्राप्त होगा। फल कोई देता नहीं स्वयं प्राप्त ही होता है।

पर आगे उसका शुभ फल अवश्य प्रकट होता है । इस शुभ करणी में प्राणी-रक्षा एव लोकहित को विशेष महत्त्व दिया गया है क्योकि मनुष्य अकेला नही रहता, समाज के बीच मे रहता है तो उसकी शुभ या अशुभ करणी की कसौटी यही पर होती है । अधिकाशत समाज के ससर्ग से ही व्यवहार बनता है । अच्छा व्यवहार बनता है तो सबको प्रियकारी लगता है । प्रियकारी वही व्य-वहार लगेगा जो दूसरो को सुख पहुचाने वाला होगा । दूसरो को अपने व्यवहार से दु ख पहुचाओगे तो समाज मे अप्रतिष्ठा मिलेगी तथा दूसरो की घृणा । इसलिये प्राणीरक्षा एव लोकहित के कामो मे जो सजगता से प्रयत्न करता है, वह अधिकतम लोगो को सुख पहुँचाता है । ऐसी शुभ करणी को श्रेष्ठतर बताया गया है ।

प्राणीरक्षा के सम्बन्ध मे देवी देवताओ की मूर्ति के सामने पशु-बलि की समस्या को ले लें । जैसे जोगमाया की मूर्ति के सामने लोग बकरे आदि पशुओ की बलि चढाते हैं और वे समझते हैं कि उन्होने धार्मिक काम किया है । वे भूल जाते है कि प्राणियो की हत्या करके उन्होने अशुभ करणी की है तथा उसका अशुभ फल उनको भोगना पडेगा । जोगमाया माता है तो क्या किन्ही खास आदमियो की माता है या सारे जगत् की माता है ? यदि वह सारे जगत् की माता है तो उन पशुओ की भी माता है, जिनकी बलि चढाई जाती है । तो क्या जोगमाया अपने ही बेटो का खून पीकर खुश होती है ? अपने साथी प्राणियो को मार कर क्या आप मा को खुश कर सकते है ? इस कृत्य को अपनी आत्मा पर घटा कर देखेंगे तो आपको सही बात समझ मे आ जायगी ।

इस प्रसग मे एक छोटी सी बात याद आ गई है । एक गाव मे एक अज्ञानी परिवार था । वह जोगमाया की पूजा के निमित्त पाडे-बकरे की बलि देने की तैयारी कर रहा था कि उधर से एक कुतिया ने आकर पूजा-सामग्री मे मुह डाल दिया । परिवार के मुखिया ने क्रोध मे आकर कुतिया पर डडा फैका जिससे उसकी टाग लगडी हो गई । पास से ही एक गुरु शिष्य गुजर रहे थे । इस घटना पर शिष्य ने पूछा—इस कुतिया का पैर इसने क्यो तोड़ा ? गुरु ने उत्तर दिया—इसने अपनी ही मा का पैर तोडा है । बलि चढाने वाले पुरुष ने यह बात सुन ली । उसने गुरु से कहा—आपने इस कुतिया को मेरी मा कैसे बताया ? गुरु ज्ञानी थे, उन्होने कहा—आज यह कुतिया है-पूर्वभव मे तेरी मा थी । चूंकि तेरी मा को कुत्तो को मारने की आदत थी सो नये जन्म मे वह कुतिया ही बन गई । उसने पूछा—अगर आप ज्ञानी हैं

नो बताइए कि मेरी माँ का मन कहाँ लगा हुआ है ? तभी तो मैं आपकी बात का विश्वास नहीं करता । गुरु असमंजस में पड़े किन्तु बोले [illegible] तो था [illegible] कर दिया । इसे मारने पर मन फिर गया तो उसने महात्मा के चरण पकड़ लिये और पूछा—यह भी बता दीजिये कि मेरे पिता मर कर कहाँ गये हैं ? गुरु ने बताया तुम्हारे पिता को बलि का [illegible] था, कई प्राणियों की [illegible] थी, इसलिये वे भी बलि का पात्र बने हैं । [illegible] बलि [illegible] के लिये जो पाला तुमने [illegible] है, वह तुम्हारे पिता का ही जीव है । तुम अपने पिता का ही मारने की तैयारी कर रहे हो । उसने पूछा—वह [illegible] कौन है ? गुरु ने बताया—वह [illegible] है । इसी प्रकार उसका [illegible] भी वह था जो इसका दुश्मन था । यह सब जानकर वह विचार में पड़ गया । तब उसका विवेक जागा और उसने अहिंसा धर्म को ग्रहण किया ।

अहिंसा की खेती से सुखों की फसल उपजेगी :

आज से ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् महावीर ने अहिंसा के महान् धर्म का उपदेश दिया था तथा अहिंसात्मक आचरण का मार्ग बताया था । [illegible] भी महात्मा गाँधी ने भी स्वतंत्रता की प्राप्ति [illegible] में अहिंसा का प्रयोग किया । अहिंसा का अर्थ सर्वजनहिताय एवं सर्वजनसुखाय होता है । यदि दूसरों को सुखी बनाओगे तो स्वयं भी सुखी बनोगे । दूसरों को दुःख दोगे तो बदले में दुःख ही मिलेगा । अहिंसा की खेती करो तो बदले में सुखों की फसल उपजेगी ।

बनाने का प्रयास करना चाहिये । कवि ने इसे दर्पण का दृष्टान्त देकर समझाया है—

> जोडोगे हाथ दर्पण को तो दर्पण भी जोडेगा ।
> चाटा दिखाओगे उसे तो वह भी चाटा दिखाएगा ।।
> जैसा करोगे वैसा ही फल आगे आएगा.... ..

दर्पण के इस दृष्टान्त को छोटा बच्चा भी समझ सकता है । प्रति-ध्वनि की तरह ही दर्पण भी आपको अपनी ही वृत्ति दिखाता है । आप हाथ जोडते हैं तो दर्पण मे भी हाथ जुडते हुए दिखाई देते हैं और चाटा मारने के लिये हाथों को उठावें तो दर्पण मे दिखाई देगा कि वही चाटा आपकी ओर आ रहा है । शिक्षापूर्ण बात यही है कि यदि आप भविष्य मे अच्छे फल की कामना करते हैं तो अभी से शुभ प्रवृत्तियो को अपना लेना चाहिये तथा अपने जीवन को पूर्णतया अहिंसक बना लेना चाहिये ।

कर्म और फल के ज्ञान से जीवन में परिवर्तन :

एक बार इस सिद्धान्त को गहराई से समझ लिया जाय कि जैसा कार्य किया जायगा, उसका वैसा फल उसे मिलेगा ही तो कार्य करते समय पूरी सतर्कता रहेगी कि सारे काम सबको सुख उपजाने वाले ही किये जाय । ऐसी वृत्ति के साथ ही सहानुभूति, सहयोग एवं समत्व आदि कई सद्गुणो से जीवन विभूषित बन जायगा और ज्यो ज्यो ऐसी वृत्ति का प्रसार होगा, व्यक्ति के एवं समाज के जीवन मे नये-नये परिवर्तन दिखाई देंगे । कर्म और फल का कार्य करते समय ही सही ज्ञान मिल जाय तो ये परिवर्तन तुरन्त और दूरगामी भी हो सकते हैं ।

आप जानते होगे कि वाल्मीकि ऋषि होने से पहले एक जबर-दस्त डाकू थे । उनके क्षेत्र मे उनका बडा आतक था । जो भी उधर से निकल जाता, बिना लुटे नही आ सकता था । एक बार नारद जी उधर से निकले । साधु होने पर भी वाल्मीकि डाकू ने उनको रोका और अपना माल सौंप देने को कहा । नारद जी ने कहा—मेरे पास तो कुछ नही है, मगर तुम डकैती का जो पाप कर रहे हो-इसका कष्टदायक फल तुमको भुगतना पडेगा । इस पर डाकू ने कहा—मैं दूसरो को लूटता हू तो अपने घर वालो को खिलाता भी हू । वे भी मेरे साथ इस पाप का फल भुगतेंगे । नारद जी ने कहा—तुम्हारी समझ गलत है । उनको पूछकर देखो कि क्या वे तुम्हारे पाप मे हिस्सा बटाएगे ? वाल्मीकि की दिलचस्पी बढी । वे अपने घरवालो के पास गये और

पुत्र कलत्र— मैं तो लोगों को लूटकर लाता और पालन करता हूँ और तुम सबको खिलाता हूँ, तुम पाप के फल में भी हिस्सेदार तो बनोगे? यह सुनकर उन्होंने कहा—जैसा तुम करोगे, वैसा फल तुम भुगतोगे—हम सब तुम्हारे पाप का फल क्यों भुगतेंगे? बात्म की गई ही थे। यह सुनकर वाल्मीकि की चेतना जाग उठी और उसी समय उन्होंने अपने जीवन-क्रम को बदलने का संकल्प कर लिया। बाद में वे ऋषि बन गये और अपनी भक्ति से रामायण के गायक बने।

कर्मवीर बनें, धर्मवीर बनें एवं मानव जीवन को सार्थक करें

आज का फल किसी के शाप पर थोपा नहीं है, वह आपका ही बोया हुआ है। इस दृष्टि से भाग्य कुछ नहीं है अथवा कुछ भी है, तो वह सिर्फ आप ही द्वारा बनाया हुआ है। सूत्र है कर्म कि जैसा आप कर्म करते हैं, वैसे ही कर्मों का आप बंध करते हैं जो उदय में आने पर आपको उनके अनुसार शुभ अथवा अशुभ फल देता है।

भविष्य सदा सुन्दर हो—इस उद्देश्य से आपको कर्मवीर बनना होगा, धर्मवीर बनना होगा। संसार में जो भी कार्य करें, वह धार्मिक भावना से ओत-प्रोत होना चाहिये तथा धार्मिक कार्य करें तब भी लोकहित का भाव सर्वोपरि रहना चाहिये। कर्म और धर्म में दोनों विचार धारा ही उन्नति की ऊँचाइयों तक पहुँचाता है तथा ऐसे व्यक्ति ही इस मानव जीवन को सार्थक बनाते हैं। एक ओर मनुष्य के आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन की वृत्तियां तो समान हैं किन्तु पशु से मानव में कोई विशेषता है तो वह है उसके धर्म की उसके विवेक की। शास्त्रों ने यह मानव जन्म दुर्लभ कहा है तो इसे व्यर्थ नहीं गवाँ, [illegible] के हाथों से [illegible] है।

अपनी आलोचना के अमूल्य क्षण

श्री मुनि सुव्रत साहिबा,
दीनदयाल देवाँ तणा देव के. ......
हू अपराधी अनादि को, जन्म-जन्म गुना किया भरपूर के ।
लूट्या प्राण छ कायना, सेव्या पाप अठार गरूर के ।।

परमात्मा के चरणो मे प्रार्थना के माध्यम से आत्म-चिन्तन के अमूल्य क्षण उपस्थित हुए हैं । ससार की कलुषित गतिविधियो को देखते हुए जीवन मे पवित्र सस्कारो का पनपना नितान्त आवश्यक है । जब चारो ओर अपवित्रता के सस्कार छाए हुए हो तथा अपवित्र वायुमडल मे आत्मा की मलिनता निरन्तर बढती रहती हो, तब उसमे पवित्र सस्कार पनपे और मजबूत बने— यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है । अपवित्र सस्कार आत्मस्वरूप को दवा देना चाहते हो तो पवित्र सस्कारो को अधिकाधिक सुदृढ बनाने की दिशा मे जागृति फैलनी ही चाहिये । अपवित्र वातावरण मे भी ऐसी दशा मे पवित्रता का सचार होना चाहिये ।

पवित्र वातावरण बनाने का सामूहिक प्रभाव :

सजग आत्माए ज्यो ही अपने चारो ओर अपवित्र वातावरण को देखती हैं तो उनमे उस अपवित्रता को दूर करके वातावरण मे पवित्रता भरने का एक सकल्प पैदा होता है, क्योकि वे जानती है कि अपवित्र वातावरण मे

[illegible] जाने का [illegible] । जिस प्रकार का वातावरण [illegible], उसका [illegible] पर [illegible] प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता ।

[illegible] शुद्ध [illegible] स्थान में [illegible] होता है। फिर [illegible] की पुष्टि होती है तथा अपनी [illegible] प्रकाश करता है । इस तरह [illegible] जाता है । इस [illegible] अभिव्यक्ति की [illegible] और [illegible] की दृष्टि [illegible] ।

अन्तर का चित्र हमारे सामने स्पष्ट रहे तथा दूसरे उस स्पष्टता के साथ हमारे विचार एव आचार का क्रम वैसा बने कि यह अन्तर निरन्तर घटता हुआ चले । प्रार्थना के माध्यम से यह क्रम पुष्ट होता रहता है और नित्य प्रति हमारी सजगता की पुष्टि होती रहती है ।

सजगता की इस पुष्टि का रहस्य ही इस तथ्य मे छिपा हुआ होता है कि हम नित्य प्रति अपनी आलोचना करते रहे—अपनी रोज की वृत्तियों एव प्रवृत्तियो का मूल्याकन करते रहे । अपनी आलोचना करने का अर्थ है कि अपने प्रत्येक विचार, प्रत्येक वचन एव प्रत्येक व्यवहार की आलोचना करना तथा आन्तरिक पवित्रता की दृष्टि से उन्हे कसोटी पर चढाना । प्रति दिन की यह कसौटी अपनी दृष्टि को बाहर के भूठे आकर्षणो से हटाकर अन्तर्मुखी बना देती है एव प्रतिक्षण यही भावना जागृत बनी रहती है कि कल की कसौटी से आज की कसौटी ऊपर ही चढनी चाहिये । कल की कसौटी से आज की कसौटी नीचे उतर जाय यह तो सहन हो ही नही सकता है ।

अच्छे विचार एव अच्छे सस्कार इस अभ्यास से जीवन के अग बन जाते हैं तो निरन्तर अच्छे विचारो का प्रवाह मन और मस्तिष्क मे बहता है। यह प्रवाह अपने जीवन मे एक ओर निरन्तर पवित्रता बनाये रखता है तो दूसरी ओर वातावरण मे भी पवित्रता का सचार करता है ।

सजग आत्मालोचना से पवित्रता का संचार :

सजग आत्मालोचना से जब चौबीसो घटे पवित्रता का संचार होता है तो फिर उस जीवन का उत्थानगामी बनना कठिन नही रह जाता है । चौबीसो घटे पवित्रता की धारा मनुष्य के मन मे बहने लग जाय तो फिर कहना ही क्या ? वैसी पवित्रता तो देवोपम बनती हुई परमात्म-स्वरूप के निकट आगे बढाने वाली होती है तथा ससार को भी आत्मिक उन्नति का नया प्रकाश प्रदान करने वाली होती है ।

किन्तु जो आत्माए चौबीसो घटे एक सी पवित्रता मे रमण करती रहने मे सक्षम नही हैं, उनमे भी आत्मालोचना का क्रम यथासाध्य सजग बना रहे तो धीरे-धीरे ही सही-पवित्रता के सस्कारो मे वृद्धि अवश्य होती रहती है । चौबीस घटो मे जितना अधिक समय निकल सके, इन आत्माओं को पवित्रता की भावना मे अपना मन लगाना चाहिये। यह मन भी तभी लग सकेगा, जब अपनी आलोचना करते रहने का क्रम बना रहेगा । अपने अन्दर बराबर देखते रहने से अपना स्वरूप विकृत बनने से बचाया जा सकेगा तथा स्वरूप विकृति मे सद् रूप आवे-इसका भी ध्यान रह सकेगा ।

जैसे जीवन-निर्वाह के लिये भोजन आवश्यक है और प्रतिदिन मनुष्य भोजन करता है, उसी प्रकार अन्तःकरण की पवित्रता के निर्वाह के लिये अपनी आलोचना करनी ही आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य भोजन करने तथा भोजन पचाने के लिये कितना भी समय निकालता ही है क्योंकि वह जानता है कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो जीना ही कठिन हो जायगा। यह ध्यान रखने की बात है कि शरीर के जीवन से भी आत्मा का जीवन अधिक मूल्यवान तथा अधिक आवश्यक होता है। आत्मा के जीवन का अभिप्राय यह है कि आत्मा के सद्गुणों की रक्षा तथा वृद्धि की चेष्टा नित्य प्रति होती रहे। इस कार्य के लिए प्रतिदिन प्रत्येक मनुष्य को अनिवार्य समय निकालना ही चाहिए। जिस तरह ठीक भोजन कर लेने से शारीरिक शक्ति व स्फूर्ति बराबर क्रियाशील बनी रहती है, उसी प्रकार सच्ची आत्मालोचना से आत्मिक शक्ति प्रकट होने की राह खोलती है तथा जीवन को आत्मिक भावना से निखार लाती है। इससे बुरी प्रवृत्तियाँ घटती हैं और अच्छी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं जिनके कारण मन में पवित्रता का प्रसार होता है।

पूजा अन्तःकरण : सच्ची आत्मालोचना

अन्त.करण होने से आत्मालोचना सच्ची बनती है तथा अपराधों को धो डालने की चेष्टा सक्रिय हो जाती है ।

किसी के कहने से नही, किसी के दवाव से नही, लेकिन स्वय के अन्त करण से जब स्वय के अन्तःकरण को देखने की तथा निरन्तर देखते रहने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तो वह आत्मा प्रभु के चरणो मे अपने कैसे भी अपराध को स्पष्ट निवेदन करने मे कभी भी सकोच नही करती है । उस आत्मा को अपनी आलोचना करते समय जब भी ऐसा लगता है कि किसी भी छोर से वह मलिनता से युक्त बन रही है तो उस मलिनता को स्वीकार करके उसे धो डालने मे वह तुरन्त ही सचेष्ट हो जाती है ।

दुनिया कुछ भी कहे—आत्मा की पवित्रता ही अभीष्ट :

एक सच्चे आत्मालोचक को इस बात की कभी चिन्ता नही होती कि उसके द्वारा अपने किसी अपराध या दोष को प्रकट कर देने पर दुनिया उसके बारे मे क्या कहेगी ? उसकी दृष्टि आत्माभिमुखी होती है और वह यही सोचता है कि जो अपराध या दोष उससे हो गया है, वह उसे इस तरह धो-पोछ डाले कि आत्म-पटल पर उस धब्बे का कोई निशान तक न रह जाय । उसकी दृष्टि मे आत्मा की पवित्रता ही प्रधान लक्ष्य के रूप मे सामने रहती है।

एक स्वच्छता प्रेमी के कपड़े, समझे कि किसी चिकास से मलिन हो गये तो उसका ध्यान पहले उस ओर नही जायगा कि उस चिकास को देखकर दुनिया क्या कहेगी, बल्कि उसे अपने वस्त्र का ध्यान आयेगा और यह ध्यान आयेगा कि चिकास को जल्दी नही हटाया तो चीटिया तग करेगी या मैल से शरीर को हानि पहुचेगी । उसी प्रकार अपनी आलोचना करने वाली प्रवुद्ध आत्मा सबसे पहले अपराध या दोष की मलिनता को इसलिये धो डालना चाहती है कि वह दूसरी मलिनता को आकर्षित करेगी और वह असावधान रही तो मलिनता इतनी बढ जायगी, जो आसानी से नही धुल सकेगी। जीवन के धब्बे, जीवन का चिकास आत्मा को मलिन बनाते हैं और एक प्रवुद्ध आत्मा उनको धोने मे कभी विलम्ब नही करेगी । उन पापो को पश्चात्ताप के साथ वह प्रभु के चरणो मे रख देगी । वह यह नही सोचेगी कि उन पापो के प्रकट हो जाने पर लोग क्या कहेंगे। अन्त.करण मे पाप और पाप को छिपाने की जब कुटिलता नही होती है तो यह विचार भी पैदा नही होता है कि पापो के प्रकट होने से उसकी प्रतिष्ठा गिरेगी । वह आत्मा तो यही सोचेगी कि कितना भी भारी अपराध हो, उसको जल्दी से जल्दी प्रभु के चरणो मे रख दू और

अपने अन्तःकरण को पूर्ण पवित्र बना लूं। जिससे उस आत्मा की पवित्रता ही [illegible] होती है।

आत्मालोचना के प्रमुख रूपों में कितनी सरसता और कितनी नीरसता ?

आत्मालोचना के प्रमुख रूपों में जब कोई रसमग्न होता है तो उस समय आत्मा का स्वरूप कितना सरल और कितना सरस बन जाता है— यह अनुभूति का ही विषय होता है। अपने मन को निरभिमान प्रभु के चरणों में रख देने, [illegible] तथा पवित्रता को पूर्ण समर्पित कर देने के अपूर्व आनन्द का रसास्वादन अनुभव से ही जाना जा सकता है। आत्मशुद्धि की उस दशा का अद्भुत [illegible] होती है। इस दशा का ही कवि ने अपनी [illegible] भाषा में वर्णन किया है—

> हूँ [illegible] [illegible] की
>
> [illegible] [illegible] किया [illegible] के।
>
> [illegible] [illegible] [illegible] [illegible],
>
> [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के॥
>
> श्री [illegible] [illegible] [illegible]..... ..

अन्त.करण होने से आत्मालोचना सच्ची बनती है तथा अपराधों को धो डालने की चेष्टा सक्रिय हो जाती है ।

किसी के कहने से नही, किसी के दबाव से नही, लेकिन स्वय के अन्त करण से जब स्वय के अन्तःकरण को देखने की तथा निरन्तर देखते रहने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तो वह आत्मा प्रभु के चरणो मे अपने कैसे भी अपराध को स्पष्ट निवेदन करने मे कभी भी सकोच नही करती है । उस आत्मा को अपनी आलोचना करते समय जब भी ऐसा लगता है कि किसी भी छोर से वह मलिनता से युक्त बन रही है तो उस मलिनता को स्वीकार करके उसे धो डालने मे वह तुरन्त ही सचेष्ट हो जाती है ।

दुनिया कुछ भी कहे–आत्मा की पवित्रता ही अभीष्ट :

एक सच्चे आत्मालोचक को इस बात की कभी चिन्ता नही होती कि उसके द्वारा अपने किसी अपराध या दोष को प्रकट कर देने पर दुनिया उसके बारे मे क्या कहेगी ? उसकी दृष्टि आत्माभिमुखी होती है और वह यही सोचता है कि जो अपराध या दोष उससे हो गया है, वह उसे इस तरह धो-पौंछ डाले कि आत्म–पटल पर उस धब्बे का कोई निशान तक न रह जाय । उसकी दृष्टि मे आत्मा की पवित्रता ही प्रधान लक्ष्य के रूप मे सामने रहती है ।

एक स्वच्छता प्रेमी के कपडे, समझे कि किसी चिकास से मलिन हो गये तो उसका ध्यान पहले उस ओर नही जायगा कि उस चिकास को देखकर दुनिया क्या कहेगी, बल्कि उसे अपने वस्त्र का ध्यान आयेगा और यह ध्यान आयेगा कि चिकास को जल्दी नही हटाया तो चीटिया तग करेंगी या मैल से शरीर को हानि पहुचेगी । उसी प्रकार अपनी आलोचना करने वाली प्रबुद्ध आत्मा सबसे पहले अपराध या दोष की मलिनता को इसलिये धो डालना चाहती है कि वह दूसरी मलिनता को आकर्पित करेगी और वह असावधान रही तो मलिनता इतनी बढ जायगी, जो आसानी से नही धुल सकेगी । जीवन के धब्बे, जीवन का चिकास आत्मा को मलिन बनाते हैं और एक प्रबुद्ध आत्मा उनको धोने मे कभी विलम्ब नही करेगी । उन पापो को पश्चात्ताप के साथ वह प्रभु के चरणो मे रख देगी । वह यह नही सोचेगी कि उन पापो के प्रकट हो जाने पर लोग क्या कहेंगे । अन्त करण मे पाप और पाप को छिपाने की जब कुटिलता नही होती है तो यह विचार भी पैदा नही होता है कि पापो के प्रकट होने से उसकी प्रतिष्ठा गिरेगी । वह आत्मा तो यही सोचेगी कि कितना भी भारी अपराध हो, उसको जल्दी से जल्दी प्रभु के चरणो मे रख दू और

अपने अन्त.करण को पुन पवित्र बना लूं । सबसे ऊपर आत्मा की पवित्रता ही उसे अभीष्ट होती है ।

आत्मालोचना के अमूल्य क्षणों मे कितनी सरलता और कितनी तरलता ?

आत्मालोचना के अमूल्य क्षणो मे जब कोई अन्तर्मग्न होता है तो उस समय आत्मा का स्वरूप कितना सरल और कितना तरल बन जाता है—यह अनुभूति का ही विषय होता है। अपने पापो को नि सकोच प्रभु के चरणों में रख देने, पापो को धो डालने तथा पवित्रता को पुन सचारित कर देने के अपूर्व आनन्द का रसास्वादन अनुभव से ही जाना जा सकता है । आत्मशुद्धि की उस समय एक अद्‌भुत ललक होती है। इस ललक को ही कवि ने अपनी काव्यमय भावनाओ मे व्यक्त किया है—

हूँ अपराधी अनादि को,
जनम–जनम गुनाह किया भरपूर के ।
लूटिया प्राण छ कायना,
सेविया पाप अठार गरूर के ॥
श्री मुनि सुव्रत साहिबा.. .. ..

अपनी आलोचना के अमूल्य क्षण जब जागते हैं तो एक प्रबुद्ध आत्मा कहती है—हे मुनि सुव्रत प्रभु, मैं तो अनादि काल से अपराधी बनी हुई हूँ तथा हर जन्म मे भरपूर गुनाह करती रही हूँ । और ये अपराध मामूली नहीं हैं—छ काया के मूक प्राणियो के प्राणो का मैं हरण करती रही हूं एव अठारह पापो का घमड के साथ सेवन करती रही हू । मैं अपराधी हूँ ।

तब उन अमूल्य क्षणो मे 'मैं' का बोध होता है—आत्मा का बोध होता है । आत्मा जागती है, अपने अपराधो पर एक नजर डालती है और उन्हे धो लेने का सकल्प कर लेती है । ऐसी जागृति ही आत्मालोचना का उद्देश्य होता है । आत्मा अपने स्वरूप पर लगे आच्छादनो को एक–एक करके हटाती चलती है और गुण–ग्राहकता के साथ अपने स्वरूप को निखारती रहती है ।

आत्मस्वरूप पर जो आच्छादन आते हैं—वे पाप के कर्मबध के आच्छादन होते हैं जो स्वय आत्मा अपनी असावधानी एवं पापवृत्ति मे चढाती है । यह उसका भारी अपराध होता है । अपनी आलोचना मे जब वह इसी अपराध का परिमार्जन करती है तो उसमे अनोखी सरलता एव तरलता आ जाती है ।

अपराध प्राणहनन व पाप सेवन का और पवित्रता आलोचना की :

परमात्म-स्वरूप मे आस्था रखकर जो प्राणहनन एव पाप सेवन के अपराध को समझ लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं तथा उनका शुद्ध हृदय से परिमार्जन कर लेते हैं, वे निश्चय ही आलोचना की सजग प्रवृत्ति से अपनी आत्मा को पवित्र बना लेते हैं—सस्कारो को उन्नतिशील बना लेते हैं । जो अपने भीतर नही झाकता, अपने आपको देखने का अभ्यास नही बनाता एव अपने स्वरूप को पवित्र बनाने की चेष्टा नही करता, वह अपने जीवन को उत्थान-गामी नही बना सकता है ।

इसीलिये महावीर प्रभु ने कहा है कि पाप से घृणा करो । जब आत्मा पाप से घृणा करेगी, तब ही पाप से मुक्त हो सकेगी । आत्मा जब पाप को हेय समझेगी, तभी उसको त्यागने का निश्चय करेगी । किसी व्यक्ति को कोई कहे—देखो यह कूडा-करकट पडा है, किन्तु इसी मे एक रत्न भी दबा हुआ है तो वह व्यक्ति रत्न को लेगा या कूडे-करकट को भी अपनी बाह में भर लेगा ? वह कूडे करकट से नफरत करेगा, उसको जल्दी-जल्दी दूर हटायेगा और रत्न को ले लेगा । ऐसी ही सावधानी आत्मालोचना के समय में रहनी चाहिये कि वह प्राणहनन तथा पाप-सेवन के अपराध रूपी कूडे-कचरे से नफरत करे, उसको जल्दी दूर हटावे और आत्मा के मूल स्वभाव रूपी रत्न को प्राप्त करले । ऐसी शक्ति तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य अपने आपको ढूढे और अपने आपको प्राप्त करले । अन्त करण की झलक मिल गई तो परमात्म-स्वरूप का प्रकाश फिर अनचिन्हा नही रहेगा । जैसे लुहार एक लौह खड पर हथौडे की चोटो से लोहे को तोड़ता रहता है, एक भूगर्भवेत्ता पानी या खनिज की खोज मे जमीन को खोदता रहता है और अपने प्रयत्न से निराश नहीं होता तो उसका प्राप्य उसे मिलता है । उसी प्रकार एक सच्चा आत्मालोचक अपने आत्मस्वरूप को खोजने, पाने तथा निखारने के काम मे कभी भी निराश नही होता है । वह उस पुरुषार्थ मे जुटा रहता है तो एक दिन अपने लक्ष्य को अवश्य ही प्राप्त करता है । अपनी आलोचना की पवित्रता उसकी आत्मा को समग्र रूप से पवित्र बना ही लेती है ।

सतत आलोचना : सतत पुरुषार्थ जीवन का त्वरित विकास :

आत्मपटल पर आलोचना का हथौडा तथा पुरुषार्थ की कुदाली सतत रूप से चलती रहेगी तो गहराई तक पहुचने मे कठिनाई नही आएगी । आत्मा

की खोज जितनी गहरी होगी, उतनी ही वह सचेतक वनेगी । इससे जीवन का त्वरित विकास सभव हो सकेगा ।

आत्मालोचना की अमृतधारा जव जब जीवन मे वहने लगती है तो अन्त करण की तरलता मे मनुष्य हर्षविभोर हो उठता है । कभी-कभी ऐसा प्रयास एक जन्म नही, कई जन्मो तक भी करना पडता है, किन्तु प्रयास निरन्तर चलता रहा तो अपराध हटेंगे और आत्मा मे अन्ततोगत्वा पवित्रता का सचार होगा ही। इसलिये सतत आलोचना एव सतत पुरुषार्थ को अपने जीवन के अग वना लेने चाहिये ।



शुभ भावों की सुरक्षा

सुज्ञानी जीवा, भजलो जिन इक्कीसवा ....

भजन किया भव–भव ना दुष्कृत, दुःख दुर्भाग मिट जावे ।
काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दुर्गति निकट न आवे ।।
जीवादिक नव तत्त्व हिये धर, हेय ज्ञेय समझीजे ।
तीजो उपादेय ओलख ने, समकित निर्मल कीजे ।।
सुज्ञानी जीवा ....

परमात्मा की प्रार्थना करने से जीवन के महत्त्वपूर्ण तत्त्व का चिन्तन किया जा रहा है । यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व अपेक्षा की दृष्टि से पुण्य है । पुण्य के बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नही बन पाती है । किसी भी अवस्था मे मनुष्य हो, किन्तु उस अवस्था मे यदि पुण्य का फल उसका साथ देता है तो जीवन मे उसके सुख और शाति बनी रहती है । यदि पुण्य फल की कमी है तो वह हर क्षेत्र मे दुःख और दुर्भाग्य का कटु अनुभव करता है । हताशा से खिन्न होकर वह अपने जीवन के प्रति उपेक्षित सा हो जाता है ।

पुण्य तत्त्व का महत्त्व : सहयोगी साधनों का स्रोत

कभी प्रश्न हो सकता है कि मोक्ष–तत्त्व अति महत्त्वपूर्ण है और जीव–तत्त्व भी महत्त्वपूर्ण है, फिर पुण्य–तत्त्व को अपेक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण

क्यों कहा जा रहा है ? इसका स्वाभाविक उत्तर यह है कि यद्यपि जीव-तत्त्व महत्त्वपूर्ण है, मोक्ष-तत्त्व अति महत्त्वपूर्ण है, किन्तु मोक्ष की अवस्था को प्राप्त करने के लिये तथा जीव-तत्त्व को कार्य-सक्षम बनाने के लिये सहयोगी साधनों का सुयोग न बने तो क्या जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है ? सहयोगी साधनो का स्रोत होता है पुण्य-तत्त्व, जिसके उदय से अपने चारो ओर ऐसे साधन जुट जाते हैं तथा ऐसा वातावरण बन जाता है कि जीव के लिये मोक्ष की दिशा मे अग्रसर होना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है । सुख और शान्ति को प्राप्त करने के लिये पुण्य का योगदान अन्य तत्त्वो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है ।

आप स्पष्ट रूप से समझ लें कि जिस पुण्य की व्याख्या आपके समक्ष चल रही है, उसमें इस शरीर को भी पुण्य मे लिया है तथा इसका मिलना पुण्य का फल माना गया है । जिन सारी अवस्थाओं के बीच यह शरीर मिला है, उससे उसका महत्त्व और अधिक बढ जाता है । शरीर भी मानव का— आर्य-भूमि का शरीर और उस को सत्संग तथा सद्-श्रद्धा का सुयोग— इन सबका साथ मे मिलना पुण्य के उदय से ही हुआ है । ऐसे सहयोगी साधनो के मिलने पर ही आत्मविकास का मार्ग सहज बनता है । इस कारण अपेक्षा दृष्टि से ही पुण्यतत्त्व को अन्य तत्त्वो की तुलना मे महत्त्वपूर्ण बताया गया है । ऐसे पुण्य-तत्त्व की उपलब्धि कैसे की जा सकती है, इस विषय में शास्त्रकारो ने विभिन्न विधियो का निर्देश दिया है ।

शुभ भावों के प्राधान्य से पुण्य-कर्म का बंध

स्थानांग सूत्र में नौ प्रकार के पुण्यों का कथन करते हुए शास्त्रकारों ने अन्न, पान, स्थान आदि पुण्य बताये हैं । यह कथन द्रव्य की अपेक्षा से द्रव्य-सापेक्ष है कि किसी के पास ये साधन उपलब्ध हैं तो उनके माध्यम से पुण्य का संचय किया जा सकता है । पानी की सुविधा है तो उसके विनियोग से भी पुण्य का सम्पादन किया जा सकता है । मकान की सुविधा है तो उसे भी पुण्य कार्य मे लगा सकते हैं । शय्या, वस्त्र आदि की सुविधा भी जुटा कर पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है । किन्तु ये सुविधाएं किसी के पास उप-लब्ध हो तथा अधिक मात्रा में उपलब्ध हों, तभी पुण्य-कार्य का योग बनता है । ऐसी स्थिति सबके लिये संभव नहीं होती है । जिन व्यक्तियो के पास ये सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं, बल्कि अपने जीवन-निर्वाह की दृष्टि से जो इन सुविधाओं की अभिलाषा रखते हैं— प्रश्न है कि क्या वे पुण्य का उपार्जन कर सकते हैं ?

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है । यदि यही उत्तर हो कि इन सुविधाओं के सिवाय पुण्य-उपार्जन के अन्य साधन हैं ही नही तो फिर यह पुण्य की शक्ति चन्द हाथो का खिलौना बन कर ही रह जायगी । सभी आत्माओं के लिये तो फिर पुण्य तत्त्व ग्राह्य बन ही नहीं सकेगा । किन्तु इस सम्बन्ध मे शास्त्रकारो ने स्पष्ट सकेत दिये हैं, जिनके आधार पर यह निर्णय दिया जा सकता है कि ये साधन एव सुविधाए मात्र ही पुण्योपार्जन के निमित्त नही है । इन साधनो के अतिरिक्त भी प्रत्येक आत्मा से पास महत्त्वपूर्ण साधन उपलब्ध है, जिसके द्वारा पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है ।

प्रत्येक आत्मा के पास उपलब्ध साधन हैं शुभ भाव और शुभ भावो का सचालक मन । यदि मन मे शुभ भावो का प्राधान्य बन जाय तो अन्य साधनों से भी अधिक उच्च श्रेणी के पुण्य कर्मों का बध हो सकता है ।

शुभ भावों की प्रवाह-धारा तथा मन की गतिविधि

आत्मा के साथ मन उपलब्ध होता है । मन चिन्तन करने का एक माध्यम है, चिन्तन करने की एक शक्ति है । साधना करने वाली आत्मा भाव—मन की सहायता से द्रव्य-मन को सगठित करती है । द्रव्य-मन शरीर के प्रत्येक अवयव मे रहा हुआ होता है और उसी के माध्यम से प्रत्येक प्रकार के सुख-दु ख का अनुभव किया जाता है । श्रेष्ठ मन को प्राप्ति भी प्रबल पुण्य का फल होती है । इस दृष्टि से द्रव्य मन जितना व्यवस्थित सुसस्कारित एव केन्द्रित होगा, उतनी ही वह आत्मा साधना-पथ पर द्रुतगति से आगे बढ सकेगी । द्रव्य-मन की स्थिति यदि भव्य प्रकार की है तो उसके माध्यम से अन्न आदि साधनो को पर्याप्त मात्रा मे जुटा सकते हैं । वे साधन, जो चन्द लोगो को प्राप्त होते हैं और दूसरो को नही होते—इस स्थिति के पीछे भी पूर्व-जन्म के कर्मों का सयोग ही मानना होगा। किन्तु इस सयोग का लाभ भी तभी होता है, जब मन की गतिविधि अनुकूल हो । मन की गतिविधि यदि ठीक न हो तो करोडो की सम्पत्ति तथा अन्न, पान आदि की प्रचुर सुविधाए प्राप्त होने पर भी पुण्य कमाने की प्रवृत्ति पैदा नही होती है ।

इस दृष्टि से मन की गतिविधि प्राप्त सयोग-सुविधाओं का सदुपयोग करने तथा पुण्यवानी कमाने के अनुकूल बननी चाहिये और इस अनुकूलता का उपाय यह है कि मन मे स्थायी रूप से शुभ भावो की प्रवाह-धारा बहने लगे । इसके लिये मन को साधने की आवश्यकता होती है कि शुभ भावो की प्रवाह-धारा प्रारम्भ होने के बाद निर्बाध रूप से बहती भी रहे ।

यह आप जानते हैं कि मन की गति अतीव चंचल होती है । गति जितनी चचल हो, उसका निरोध उतना ही कठिन होता है—यह एक अनुभूत सत्य है । यही कारण है कि मन को नियमित सुव्यवस्थित एवं अपने उद्देश्य के प्रति केन्द्रित बनाने का काम अभ्यास एवं लगन के साथ ही साधा जा सकता है । अशुभ भाव बार-बार मन पर आक्रमण करते हैं और मन उनमे उलझ-उलझ कर मलिनता एकत्रित कर लेता है इस वास्ते अभ्यास करना पडता है कि अशुभ भाव मन पर प्रभाव न डालें और न ही वचन और काया की प्रवृत्तियों को बिगाड़ें । अशुभ भावो पर रोक लगाने के साथ शुभ भावो का मन मे उदय होगा तब वे भाव मन, वचन एवं काया के समस्त योग—व्यापार को प्रभावित करेंगे । इससे मन की गतिविधि शुभ भावो के प्रवाह मे ही संचालित होने लगेगी और प्राप्त साधन एवं शुभ भाव दोनो पुण्य का उपार्जन करने की दृष्टि से सशक्त साधन बन जायेंगे ।

शुभ भावों की सुरक्षा से स्वावलम्बन एवं पुण्य का उपार्जन

आपको दो प्रकार के व्यक्ति संसार मे दिखाई देते हैं । एक तो वे जिन्हें पिता से कोई थाती प्राप्त नही होती, माता की कुक्षि से बाहर आये कि माता का सरक्षण भी हट जाता है और जैसे-तैसे उनका पालन-पोषण होता है फिर भी बडे होकर वे अपने निज के पुरुषार्थ बल से अपने जीवन का स्वय निर्माण करते हैं तथा उन्नति के ऊपरी छोर तक पहुंच जाते हैं । दूसरे वे लोग होते हैं, जिन्हे पिता की अपार सम्पत्ति उत्तराधिकार मे मिलती है, जिन्हें माता का लाड-प्यार तथा सुख का पालन-पोषण मिलता है लेकिन जो बडे होकर उस सम्पत्ति को भी नष्ट कर देते हैं तथा अपने जीवन को दु:खभरा, विकृत एव निकृष्ट बना लेते हैं । दोनो प्रकार के व्यक्तियो के बीच मे उपलब्ध साधनो का ऐसा अन्तर होते हुए भी उसका परिणाम उनके जीवन मे किस विभिन्न रूप से प्रकट होता है ! ऐसा क्यो होता है ?

इसका सरल उत्तर यह हो सकता है कि यह दोनो की पुण्यवानी का अन्तर है, किन्तु ऐसा हो भी सकता है तथा नही भी होता है । बहुधा यह मन की गति का परिणाम भी हो सकता है । मन द्रव्य-पुण्य का फल होता है एव द्रव्य-मन की पुण्यवानी से कई साधनो की उपलब्धि होती है । जो प्राप्त सस्कारो से तथा अपने शुभ भावो के प्रभाव से अपने मन को नियन्त्रित कर लेते हैं, वे सहज ही मे साधनो को भी प्राप्त कर लेते हैं । ये शुभ भाव होते हैं स्वावलम्बन के । दूसरो का आश्रय ढूंढने की अपेक्षा जो अपना ही

आश्रय खोजते हैं, वे अपने जीवन का स्वत ही सुन्दर निर्माण कर लेते हैं ।

स्वावलम्बी वे ही बनते हैं तथा उस स्वावलम्बन से पुण्यो का उपार्जन वे ही कर सकते हैं, जो शुभ भावो की मन के निग्रह से भलीभाति सुरक्षा कर लेते हैं । मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण होता है और मन को यदि सुव्यवस्थित बना लिया तो पुण्यवानी का सचय सरल बन जाता है । शुभ भावो से सुरक्षित मन को आप कल्पवृक्ष की उपमा दे सकते हैं कि कल्पवृक्ष से आप जैसे जो चाहे, प्राप्त कर सकते हैं, उसी प्रकार सधे हुए मन से कोई भी मनोरथ अप्राप्य नही रहता है ।

प्रत्येक मनुष्य के पास मन की अपूर्व थाती

प्रत्येक मनुष्य के पास मन की अपूर्व थाती विद्यमान है। यह उसकी बपौती है । इसमे किसी का हिस्सा नही है— इसको कोई लूट-खसोट नही सकता । मन को लूटने वाली स्वय आत्मा ही हो सकती है, जो ससार के झूठे पौद्गलिक सुख के पीछे मन को नष्ट-भ्रष्ट कर डालती है । वापिस मन को सवारना— यह भी आत्मा की ही प्रेरणा होती है । यदि आत्मा का विवेक जागृत हो जाता है तथा वह मन को सुव्यवस्थित बनाने की विवेक-बुद्धि बना लेती है तो उस मनोबल से पुण्यो का उपार्जन भी हो सकता है तथा उन पुण्यों से उपार्जित साधन-सुविधाओ का स्वेच्छा से त्याग भी सभव बन जाता है । मन ही बाधता है और मन ही बन्धनो से छुडाता है। जो अन्तर है, वह आत्मा के मन पर होने वाले नियंत्रण का है । इसलिये शास्त्रकारो ने मन को भी पुण्य का एक भेद बताया है अर्थात् मन से भी शुभ भावो के द्वारा पुण्य का संचय किया जा सकता है ।

मन से पुण्य का सचय किस प्रकार होता है ? मनुष्य यदि अपने मन मे शुभ भावना लाता है, सत्सग के प्रसग से अच्छी शिक्षाए सुनता है और ध्यान से उन पर अपने मन का योग लगाता है तो उसके अनुसार निश्चित रूप से पुण्य का सचय भी होता है तथा मनोभावना की उच्चतर श्रेणियो मे आत्मशुद्धि एव कर्मों की निर्जरा भी बनती है ।

शरीर की स्थिति और मन की स्थिति मे भी कई बार बडा अन्तर देखने को मिलता है । एक व्यक्ति शरीर से मुनि के प्रवचन मे बैठा हुआ है, किन्तु उसका मन विषय-विकारो मे चक्कर लगा रहा है तो वह अपनी पाप-पूर्ण कल्पनाओ मे डूब जाता है तथा शरीर की स्थिति निरर्थक बन जाती है।

उन पापपूर्ण कल्पनाओं की स्थिति में भी यदि आत्मा का तेज चाबुक मन के लग जाता है तो भाव-धारा फिर से पलटा खा सकती है। उस समय पश्चात्ताप का भाव उदय होता है और विचारश्रेणी बदल जाती है। तब मन का पुनः दाणी-श्रवण से स्थिरीकरण हो जाता है। मन की इस अपूर्व थाती को स्वावलम्बी पुरुष आत्मोत्थान के मार्ग पर नियोजित करता है तथा अपने लक्ष्य को साध लेता है।

मन की इस थाती के प्रहरी होते हैं—शुभ भाव

मन की इस अपूर्व थाती के रक्षक-प्रहरी होते हैं—शुभ भाव। नियंत्रण की डोरी मजबूती से पकड़ कर मन में शुभ भावों को जगाये रखो—उसे शुभ कामों में व्यस्त बनाओ तो वैसे मन की शक्ति से बड़ी से बड़ी सिद्धि भी प्राप्त कर सकते हो। शुभ भाव टूटते हैं तो अशुभ भावों के झंझावात में आत्म-स्वरूप बिगड़ता है और मन अनियंत्रित बन जाता है। इसलिये ज्ञानियों ने कहा है कि शुभ भावों की धारा को स्थायी बना कर मन की इस थाती से आत्म-सम्पत्ति को अभिवृद्ध बनावें। मन-पुण्य से पुण्य का उपार्जन होता है। भले ही, बाहरी पदार्थ पास में हो या नहीं, मन-पुण्य से न तो बाहरी पदार्थों की कमी रहती है तथा न ही भीतरी जागृति दबी हुई रहती है।

मन की गतिविधि के सम्बन्ध में ज्ञाता कथाग सूत्र में मयूरी के अंडों का एक दृष्टान्त आता है। दो मित्र वन में भ्रमण करने को गये। वहां एक सुन्दर मयूरी नाच रही थी—उसे देख कर वे इतने प्रफुल्लित हुए कि वे अपने घर में मयूरी लाने की कल्पना करने लगे। दोनों ने चर्चा की तो इस निर्णय पर पहुंचे कि कहीं से मयूरी का अंडा मिल जाय तो मयूरी अपने ही घर में पैदा हो जायगी और घर में सदा उसका सुन्दर नाच देखने को मिल सकेगा। दोनों इधर-उधर अंडों की तलाश करने लगे। एक जगह उनको दो अंडे दिखाई दिये— एक-एक अंडा दोनों ने ले लिया और घर की ओर चल दिये।

एक मित्र बड़े चंचल मन वाला था। घर जाकर वह बार-बार अंडे को हिलाने लगा कि उसमें मयूरी का बच्चा है या नहीं। हिलाने से गाढा द्रव पतला हो गया और एक दिन वह अंडा फूट गया। उसने ... कि मित्र ने अंडे से बच्चा निकलने की बात गलत बताई है। व... के घर पहुंचा। वहां उसने देखा कि एक सुन्दर मयूरी का ब...

था। उसे आश्चर्य हुआ। तब मित्र ने समझाया कि तुम्हारे चंचल मन ने बच्चे को नष्ट कर दिया। मैंने बड़े धैर्य से और विवेक से अडे का पोषण किया तो मुझे बच्चा मिल गया।

इस दृष्टान्त से स्पष्ट होता है कि नियत्रित मन शुभ फल का दाता होता है, जबकि चचल मन फल को भी नष्ट कर देता है और करणी को भी। शुभ भावो से सत्कर्म करिये किन्तु फल को पाने की उतावली न रखें। कार्य श्रेष्ठ विधि से होता है तो उसका सुफल स्वत ही प्राप्त हो जाता है—उसकी कामना करके व्यर्थ ही मन के परिणामो को चचल नही बनाना चाहिये। शुभ भावो की सुरक्षा मे मन को सदा सुव्यवस्थित बनाये रखना चाहिये।

शभ भावों की लगाम से मन के घोड़े को बांधे रखो !

आप यह देखिये कि मेरा मन सही रास्ते पर जा रहा है या गलत रास्ते पर। इसकी जांच करने मे ज्यो ही आपको लगे कि मन अशुभ भावों मे डूब रहा है तो झट से उसे शुभ भावों के प्रवाह मे खीच लीजिये। मन को एक उद्दण्ड घोडा मान कर उसके मुख में अपने शुभ भावों की लगाम लगा दीजिये ताकि ज्यो ही वह अशुभ भावो की जहरीली घास मे मुंह मारने के लिये इधर–उधर हो कि उसकी लगाम को खीच लें। ज्यो-ज्यो यह अभ्यास मजबूत बन जायगा, आत्मा और मन दोनो एक दूसरे के निकट रह कर फिर शुभ भावों मे ही रमण करने के अभ्यस्त बन जायेंगे।

मन के नियत्रण का अर्थ मन को रोक कर खडा करना नही है। मन को गतिशील तो बनाये रखना है किन्तु नियंत्रण से अभिप्राय यह है कि उसकी गति शुभ भावो की दिशा मे हो। मन को रोकने की कोशिश मत करो, वह तो दौडता ही रहना चाहिये। एक अच्छा सवार कैसा घोडा पसन्द करेगा— मरियल और गधे की तरह अडियल अथवा तेज तर्रार दौडने वाला? घोडा तो तेज तर्रार ही हो, मगर उसकी लगाम मजबूत हो और सवार उसे मजबूती से पकड कर रखे। फिर दूर की मंजिल भी उसकी तेज चाल से आसान बन जायगी। लगाम को भी काम मे तभी लें, जब घोडा रास्ते से हट रहा हो। मन इस तरह सही रास्ते पर चलना सीख गया तो वह आत्म-विकास के लिये अति हितावह हो जायगा।

शुभ भावों से भरा मन तो शुभ विनियोग, शुभ उपयोग

मन रूपी घोडे पर ज्ञानपूर्ण शुभ भावो की लगाम लगा कर उसे

रास्ते पर चला दें तो वह मंजिल तक जरूर पहुंचेगा । सच्चे ज्ञान, सच्ची श्रद्धा तथा सच्चे चारित्र्य की एकाग्रता से आराधना करते हुए उस मन को मोक्ष का लक्ष्य प्रिय बन जायगा ।

स्वाध्याय के माध्यम से शुभ भावो को जगाइये, प्रार्थना के अभ्यास से मन को सदा शुभ भावो मे रमण करना सिखाइये और अवसर पडने पर मन को नियन्त्रित करने की आत्मशक्ति पैदा कीजिये । फिर देखिये कि मन सदा और सर्वत्र शुभ भावो से भरा हुआ रहेगा तथा उसका शुभ विनियोग एव शुभ उपयोग सचेष्ट रह कर कर्मशील बनेगा । ऐसे मन से शुभ भावो की सुरक्षा होगी तथा आत्मविकास सधेगा ।



पुण्य का प्रभाव और परिणाम

सुज्ञानी जीवा, भजलो जिन इक्कीसवां………

भजन किया भव-भव ना दुष्कृत, दु ख दुर्भाग मिट जावे ।
काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दुर्गति निकट न आवे ॥
जीवादिक नव तत्त्व हिये धर, हेय ज्ञेय समझीजे ।
तीजो उपादेय ओलख ने, समकित निर्मल कीजे ॥
सुज्ञानी जीवा………

परमात्मा को प्रति दिन आदर्श के रूप मे उपस्थित करके भक्ति के स्वरूप को समझना है । भजन की विधिया अनेक तरह से प्रचलित हैं । जितने भी छद्मस्थ साधक हो गये हैं, उन्होने अपनी-अपनी दृष्टि से प्रभु की आराधना की तथा जो विधि उनके लिये हितावह बन गई, उसका उल्लेख उन्होने किया है । किन्तु जिन्होने समग्र साधना के परिपूर्ण स्वरूप को पा लिया एव जो सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हो गये, उन्होने जो विधि बतलाई है, वही विधि आध्यात्मिक विज्ञान की दृष्टि से सर्वांग सुन्दर, सभी प्राणियो के लिये हितावह एव समग्र आत्माओ को परिपूर्णता के मार्ग की ओर बढाने वाली पवित्रतम विधि है ।

तत्त्वों के ज्ञान के साथ चैतन्य की आराधना

सर्वज्ञ द्वारा निर्देशित विधि के अनुसार यदि मनुष्य प्रभु की आराधना

करे तो अन्य सारी विधियां स्वत ही स्पष्ट हो जाती हैं । कवि ने ऊपर भजन के फल का निर्देश करते हुए जिस विधि का सकेत दिया है, वह सकेत समग्र विश्व की चेतना तथा चिन्तन के साथ पिंड के रूप मे रहने वाले आत्मतत्त्व का भी भव्य चिन्तन है । इसे जीवादिक नव तत्त्वो के चिन्तन के रूप मे समझना चाहिये ।

तात्त्विक चिन्तन से ही ज्ञात होता है कि शरीर पिंड मे रहने वाला चैतन्य तत्त्व किस गति से चलता है, वर्तमान मे उसकी क्या दशा वनी हुई है, वन्धन क्या है तथा वन्धन से मुक्त कराने वाला कौनसा तत्त्व है ? तीन-तीन तत्त्वो की स्पष्ट समीक्षा की गई है । व्युत्पत्ति कर्म से कवि ने कविता का गठन किया है । जीव, अजीव तथा बध—पहले इन तत्त्वो को ज्ञेय की दृष्टि से ग्रहण करें और हेय की दृष्टि से छोड़े । फिर पुण्य, पाप तथा आश्रव को लिया गया है । यह पक्ति भी सापेक्ष है ।

पुण्य तत्त्व के विषय मे तीनो बातें लागू होती हैं—ज्ञेय, उपादेय एव हेय । पुण्य तत्त्व इस जीवन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । मन पुण्य से जब मन को निश्चल गति मिलती है तो सभी तत्त्वो का ज्ञान पूर्ण अध्ययन एव मनन के साथ प्राप्त करने की प्रवृत्ति वनती है । नव तत्त्वो के गहरे ज्ञान के वाद ही इस चैतन्य तत्त्व आत्मा के स्वरूप की वन्धन और मुक्ति के सदर्भ मे पहिचान होती है । उसके बाद जो प्रभु की आराधना की जाती है, वह एक प्रकार से इस चैतन्य तत्त्व की ही आराधना हो जाती है । चैतन्य तत्त्व की आराधना ही प्रभु की प्रार्थना का प्रधान लक्ष्य होता है । आत्मा से परमात्मा तक का मार्ग इसी भक्ति के सम्बल से पूरा किया जा सकता है एव मोक्ष के चरम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है ।

मन-पुण्य का तात्त्विक चिन्तन

कोई आत्मा मानसिक धरातल से उत्कृष्ट पुण्यवानी का वंध करे तो वह तीर्थंकर नामकरण की प्रकृति का भी बंध कर सकती है । शास्त्रो मे जितनी भी पुण्य की प्रकृतियां बतलाई हैं, उन सबमे श्रेष्ठ एव उत्तम प्रकृति तीर्थंकर नामकरण की मानी गई है । इस प्रकृति के वध के लिये मनुष्य बीस बोल की आराधना करे । इनमे मुख्य बल मन पर दिया गया है तथा यह कहा गया है कि इन बीस बोलो की आराधना करते हुए यदि साधक उत्कृष्ट रसायन ले ले तो तीर्थंकर नामकरण की प्रकृति का वंध कर सकता है ।

रसायन की उत्कृष्ट अवस्था मन मे ही आती है। जहा भौतिक प्रयोगशालाओ मे रासायनिक तत्त्वो का विश्लेषण होता है, एक दूसरे तत्त्व को अनुपात से एक दूसरे मे मिश्रित करके विविध परिवर्तन पैदा किये जाते है तथा नवीन अनुसधानो की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार भीतरी जीवन की मन रूपी प्रयोगशाला मे भी भावनाओ के रसायन क्रियाशील रहते हैं। इन रसायनो मे घनत्व सम्बन्धी प्रक्रियाए चलती रहती हैं। ये प्रक्रियाए वीतराग देव मे प्रगाढ श्रद्धा, बीस बोल की आन्तरिक आराधना तथा चैतन्य तत्त्व मे गूढ तन्मयता के रूप में जब घनत्व के उच्चतम बिन्दुओ तक पहुचती हैं तो उनका प्रत्यक्ष परिणाम तीर्थंकर नामकर्म के बध के रूप मे प्रकट होता है। बाहरी साधनो का संयोग मिले या नही मिले, तब भी मानसिक रसायन की उत्कृष्टता चैतण्य तत्त्व को प्रखर बना देती है।

मन पुण्य का तात्त्विक चिन्तन मनुष्य योनि से ही प्रारभ होता है और मुख्य रूप से इसी जीवन मे मन को ऊचाइयो तक पहुचाया जा सकता है। मन पुण्य का परिणाम भले ही स्वर्ग-प्राप्ति के रूप मे भी मिले किन्तु इसका प्रभाव मानव-जीवन मे ही परिलक्षित होता है। मन की गतिविधियो को प्रभावशाली बनाने की कर्मभूमि यही मानव-जीवन है।

मन की गतिविधियो के मोड़ तथा उतार-चढ़ाव

जिस सम्यक्-दृष्टि आत्मा ने तीर्थंकर नामकरण का बन्ध प्रारभ किया और संयोगवश कर्म-बन्धन कुछ अवशेष रह गया तो उस आत्मा को स्वर्ग की गति मिल जाती है, लेकिन स्वर्ग मे भी मनुष्य-जीवन जैसी साधना की परिस्थितिया नही होती हैं और न ही मन की गतिविधिया उच्चतम रसायन का निर्माण कर सकती है। स्वर्ग मे भौतिक वैभव की प्रचुरता है, किन्तु वहां पर इस मानसिक धरातल से अवशेष तीर्थंकर नामकरण बंध भी पूरा होता है। सयोगवश किसी आत्मा ने अपनी करणी से नरक का आयुष्य बाध लिया और बाद मे वह सम्यक् दृष्टि बनी और वह तीर्थंकर नामकरण गोत्र बाधना चाहे एव आयुष्य समाप्ति के समय नरक मे चली जावे तो अवशेष तीर्थंकर नामकरण प्रकृति का बन्ध नरक मे भी पूरा कर सकती है। यद्यपि नरक मे जाते ही अन्तर्मुहूर्त मे घोरतम वेदना प्रारभ हो जाती है, फिर भी मानसिक रसायन की प्रक्रिया इस ढग से चल सकती है कि उत्कृष्ट रसायन मन से नही निकले। परिणामस्वरूप उसका फल तीर्थंकर नामकरण का बध कराने मे सहायक हो सकता है।

इसलिये जीवन के साथ मन-पुण्य का जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को आद्योपान्त समझने की आवश्यकता है। जिन आत्माओं का मानसिक धरातल मन की गतिविधियों के मोड तथा उतार-चढाव के आधार पर ढलता है, उस पर उत्कृष्ट मानसिक रसायन का परिवर्तन नही आने पर भी जितनी उत्कृष्ट भावना बनती है, उन भावनाओ के माध्यम से उत्कृष्ट पुण्यवानी का सचय होता है। यह पुण्यवानी ऊर्ध्वगामी होती है।

मन की गतिविधियो के मोड आत्मा की पूरी सावधानी मागते हैं। जहा साधना और वासना के बीच मनोदशा मे टकराव पैदा होता है, वे ही मोड कहलाते हैं। इन मोड़ो पर चैतन्य तत्त्व सजग रहे तथा मन की चिन्तन धारा को नियन्त्रण में रख ले तो मन अपनी स्वस्थ गति से मोड को पार कर लेता है तथा वाह्य पदार्थों के प्रलोभन की वासना उसका कुछ भी अहित नही कर सकती है। ये मोड ही मन में उतार-चढ़ाव का दृश्य उपस्थित करते हैं। इस टकराव मे मन मजबूत रहता है तो वह अपने ऊर्ध्वगामी मार्ग पर ऊपर चढ़ जाता है तथा उत्कृष्ट रसायन का निर्माण कर लेता है। लेकिन इससे विपरीत स्थिति में मन की साधना जब हार खा जाती है तो मन पर वासना हावी हो जाती है और मन पतन के उतार पर लुढक जाता है। मन की गतिविधियों के मोड इस तरह मन के उतार-चढ़ाव के कारण बन जाते हैं।

मन का धरातल और पूर्ण व जीर्ण सेठ का उदाहरण

मानसिक धरातल पर चढने-उतरने वाली विचार श्रेणी का स्वरूप पूर्ण व जीर्ण सेठ के उदाहरण मे देखने को मिलता है। वैशाली नगरी में महावीर प्रभु पधारे। नगरी के बाहर प्रभु ने चार माह की तपस्या अगीकार की तथा ध्यानस्थ खडे हो गये। जीर्ण सेठ प्रतिदिन अपनी शारीरिक निवृत्ति हेतु उसी मार्ग से बाहर जाया करता था। जब उसने प्रभु को ध्यानस्थ देखा तो वह मन मे अत्यधिक उल्लसित हुआ और प्रभु के चरणो मे निवेदन करने लगा—भगवन्, आप अडोल अवस्था मे ध्यानस्थ हैं। लगता है, आज आपका तप है और इस तप का पारणा तो अवश्य होगा ही। पारणे के लिये इस अकिंचन दास को न भूलें। मैं इसी नगर मे रहता हूँ। समुचित रूप से भक्ति-पूर्वक उसने निवेदन किया और अपने स्थान पर पहुच गया।

प्रभु के दिव्य स्वरूप का चिन्तन उसके बाद भी जीर्ण सेठ के मन मे बराबर चलता रहा। रात बीती तो फिर उसके मन मे उमग जगी कि सुबह मैं जल्दी जाऊ और प्रभु के दर्शन करू। संभव है भगवान् आज पारणा करेंगे

तो मेरे घर को अवश्य पावन बनावेंगे। उसी भावना से वह फिर वही पहुंचा तो देखा कि प्रभु तो उसी तरह ध्यानस्थ खडे हैं। उसके मन की उत्कृष्ट भावना प्रगाढ बनी, उसने फिर प्रभु से उसी प्रकार का निवेदन किया तथा घर को लौट आया। यह कार्यक्रम नियमित रूप से चार माह तक बराबर चला।

तब जीर्ण सेठ के मन मे निश्चय हो गया कि प्रभु ने चार माह का तप ठान रखा है तथा चातुर्मास समाप्ति पर ही ये तप का पारणा करेंगे। उसने सोचा कि मेरी प्रगाढ श्रद्धा, अटूट भक्ति तथा उत्कृष्ट भावना प्रभु के ज्ञान में हैं, अत वे मुझे अवश्य ही कृतार्थ करेंगे। ऐसी भाव-विभोर मनोदशा मे अपने द्वार पर खडा होकर प्रभु के आगमन की वह एकटक प्रतीक्षा करने लगा। उत्कृष्ट मानसिक रसायन के कारण उस समय उस जीर्ण सेठ की पुण्य-वानी इतनी उत्कृष्ट विधि से बध रही थी कि यदि थोडे समय के लिये ही वह उत्कृष्टता और चलती तो वह केवल ज्ञान तक की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता। किन्तु मन की गतिविधियो के मोड बडे विचित्र होते हैं।

महावीर प्रभु ने अपने ज्ञान मे कुछ और देखा तथा वे पारणे के दिन एक दूसरे पूर्ण सेठ के यहां पहुच गये, जिसकी प्रभु के प्रति कोई श्रद्धा नही थी। वह इतना कजूस था कि दान देना भी पसन्द नही करता था। उसके यहा कोई भिक्षा नही ले पाता था। किन्तु ज्यो ही प्रभु वहा पहुँचे, पूर्ण सेठ ने उनके दिव्य स्वरूप को देखा तो वह प्रभावित हुआ। उसके मन मे एकाएक विचार आया कि इस भिक्षुक को तो कुछ देना चाहिये। उसके मन मे शुभ भावना का सचय हुआ। उसने दासी को कुछ देने के लिये आवाज लगाई। दासी ने इसे शुभ लक्षण माना और सोचा कि सेठ के मन मे शुभ भावना का अकुर उगा ही है सो अच्छा पदार्थ दे दूंगी तो वह जल जायगा। इसलिये उसने सेवल उर्द के बाक़ले प्रभु को दिये। प्रभु ने उन्हे समभाव से ग्रहण किया।

उसी समय देव दुन्दुभि बजी तथा आकाश से सोनैयो की बरसात होने लगी। यह आवाज जीर्ण सेठ के कानो तक भी पहुची। उस आवाज से उसकी उत्कृष्ट भावना मे मदी का दौर आ गया। उसके मन की जिस भावना का प्रवाह ऊर्ध्वगामी चल रहा था, वह निराशा की स्थिति मे विपरीत दिशा की ओर मुड गया। कहा तो केवलज्ञान की प्राप्ति निकट हो चली थी और कहां वही भावना उसे दूसरी ओर खीच ले गई।

मन-पुण्य की ज्ञेय, हेय एवं उपादेय परिस्थितियाँ

मन – पुण्य की धारा कितनी तीव्रता के साथ वह जाती है और मनुष्य को कहा से कहा लेकर चली जाती है—इन परिस्थितियो का ज्ञान एक साधक को होना चाहिये । इसलिये मन-पुण्य का यह विश्लेषण ज्ञेय— जानने योग्य है, कथचित् उपादेय— ग्रहण करने योग्य है तो कथचित् हेय – छोडने योग्य भी है । तीनो अवस्थाओ का इसके प्रति सम्बोधन है । जब ऊपर की अवस्था प्राप्त होगी तो केवलज्ञान प्राप्त होता है तथा उसके बाद का गुणस्थान भी इसी पुण्य के फल के रूप मे मिलता है । तभी मानसिक धरातल पर केवलज्ञान की साधना सफल बनती है । जिनका द्रव्य-मन शरीर की स्थिति से बलवान होता है वे ही प्रारम्भिक धारा मे बहते हुए चार घाती कर्मों को समाप्त करके मोक्षगामी होते हैं ।

इसीलिये बन्ध और मोक्ष—दोनो स्थितियो का कारण इसी मन को माना गया है । बन्धनो मे भी मन जब तीव्र गति से पतन की ओर बह जाता है तो कठिनतम बधनो से आत्मा को जकड देता है । लेकिन अपनी भाव धारा को चढाव का मोड देकर वही मन इन कठिनतम बन्धनो को काट कर मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त बना देता है ।

पुण्य-तत्त्व इस रूप मे ज्ञेय है कि पुण्य तथा विशेष रूप से मन-पुण्य के प्रभाव तथा परिणाम का गहरा अध्ययन किया जाना चाहिये । इसी अध्ययन से मन की गतिविधि की पहिचान होती है तथा उस पर नियत्रण पाने की विधि का अभ्यास बनता है । पुण्य उपादेय भी है, क्योकि इसी के प्रभाव से स्वय स्वस्थ मन भी प्राप्त होता है तो विविध प्रकार की साधन सामग्री भी मिलती है, जिसके द्वारा आत्मोन्नति के नये-नये सोपान चढने को मिलते हैं । पुण्य-तत्त्व हेय भी होता है और उस स्तर तक पहुचने के बाद इसे छोडना भी पडता है । इसे एक दृष्टान्त से समझिये । एक नदी के इस पार से उस पार पहुचना है तो नदी को पार करने के लिये जिस साधन की जरूरत होगी, वह साधन है नाव का साधन । इस नाव को आप पुण्य समझ लें । नाव की सहायता से नदी के अथाह जल मे भी आप सुरक्षित आगे बढते जायेंगे, किन्तु नदी के उस किनारे तक पहुच कर फिर नाव को भी छोड देना पडेगा । नाव से बाहर कदम निकालने पर ही उस पार के भूतल पर कदम रखा जा सकेगा । इसी रूप मे पुण्य की सहायता से गुणस्थानो की ऊची मजिलें तय होगी लेकिन मोक्ष के भूतल पर पहुचने के पहले इस पुण्य को भी छोडना पडेगा । इस तरह पुण्य का ज्ञेय, उपादेय तथा हेय रूप समझना चाहिये ।

पुण्य एकान्त हेय नहीं

वीतराग देव ने पुण्य-तत्त्व को सर्वथा हेय नहीं बताया है । उन्होने भावना की बात कही है, ग्रहण करने की बात कही है, आत्मा की बात कही है तथा जब आत्मा की समग्र सिद्धि हो जाय तो उस वक्त उसके त्याग की बात भी कही है । अत. इस तत्त्व के विषय में परिस्थितियों के अनुसार तीनों प्रकार के दृष्टिकोण उपस्थित होते हैं । वह ज्ञेय, उपादेय और हेय भी है । यदि पुण्य-तत्त्व को एकान्त रूप मे हेय या त्याज्य बोल दिया जाता है तो वहां प्रभु-भक्ति की भव्य सेवा भी नही हो सकेगी । सुसेवा से पुण्यवानी का बन्ध होता हैं तो कुसेवा से जीवन मे दु ख और दुर्भाग्य भी मिलता है । उस समय भी प्रभु-भक्ति की पवित्र आराधना में यदि वह लगता है तो उस दुर्भाग्य से भी मुक्ति पा सकता है । दुःख व दुर्भाग्य का वह अन्त करके सद्भाग्य के साथ मोक्ष तक भी प्राप्त कर सकता है ।

मानव-जीवन में यह मन-पुण्य का साधन प्रत्येक को प्राप्त होता है अतः इस साधन से प्रत्येक को लाभ उठाना चाहिये तथा सुसाधन का सचय करना चाहिये । यह सुअवसर बारबार मिलने वाला नही है । यदि इसी मन के भीतर कुत्सित वासनाएं उठती हैं, बुरे भाव तूफान मचाते हैं या हीन दृष्टि-कोण पनपता है तो यही मन मनुष्य का प्रबल शत्रु बन जाता है । मन की विगति मे वह भोग-वृत्तियो मे डूब जाता है तथा जीवन में ईर्ष्या, द्वेष, वैर, हिंसा आदि कलुषित वृत्तियो का कालापन इकट्ठा कर लेता है । ऐसी दुर्दशा में बहुमूल्य पुण्य का मूल्य भी समाप्त हो जाता है ।

पुण्य ही सब कुछ नही है— इस बात का अवश्य खयाल रखिये क्योंकि वह आखिरी लक्ष्य नही है । लेकिन आत्म-विकास के मार्ग पर आगे बढने की सहायता के रूप मे उसका महत्त्व भी कुछ कम नहीं है । अन्तिम लक्ष्य अवश्य ही बन्धनमुक्त मोक्ष है, किन्तु इस मजिल को तय करने मे पुण्य एक सबल सहायक और सशक्त माध्यम अवश्य है जिसे एकान्त रूप से हेय नही कह सकते ।

सीढ़ियों के बिना क्या ऊपर की मंजिल में पहुंच सकेंगे ?

कल्पना करें कि किसी को सातवी मंजिल पर पहुँचना है, तो वह सीढियो की सहायता से ही ऊपर चढ सकेगा । वे आधुनिक सीढ़िया भले ही

लिफ्ट के रूप मे हो। चढने के लिये सीढियो पर ठहरने वा बैठने का सवाल नहीं है, लेकिन इन पर से गुजरे बिना भी ऊपर चढना सभव नही होता है। सीढियो पर चढते समय आप यही सोचते हैं कि एक सीढी को देखूं, उस पर चढू, फिर उसको छोड कर अगली सीढी पर पैर रखूं। इस तरह प्रत्येक सीढी पर ज्ञेय, उपादेय तथा हेय की प्रक्रिया चलती रहती है। जब आखरी मजिल तक पहुच जाते हैं तो फिर सीढियो की कतई जरूरत नही रह जाती है। इसी रूप मे मोक्ष की मजिल तक पहुँचने मे पुण्य का प्रयोजन होता है। सीढिया या लिफ्ट छोड कर जो सातवी मजिल के लिये उछालें लगा कर ऊपर पहुँच जाने की कल्पना करता हो, उसे आप कितना बुद्धिशाली समझते हैं— यह आप ही जानें।

मानव-तन मे आकर इन्ही सीढियो की साधना करनी चाहिये तथा ज्ञेय, उपादेय तथा हेय का स्वरूप समझ कर एक के बाद दूसरी सीढी चढते हुए ऊपर से ऊपर पहुचने का पराक्रम एक उन्नतिशील आत्मा को दिखाना चाहिये। कवि ने इसी दृष्टि से ज्ञानियो को सम्बोधित किया है कि—

सुज्ञानी जीवा भजलो रे जिन इक्कीसवा ' ' .....

यह सम्बोधन भव्य-जन को जो ज्ञान के सन्मुख है सुज्ञानी शब्द से किया गया है क्योकि वही तत्त्व का भली प्रकार ज्ञान कर सकता है, उस पर गहरा चिन्तन कर सकता है तथा उसके बाद प्रभु की गूढ आराधना कर सकता है। सुज्ञानी ही सत्य को समझ सकता है तथा चैतन्य को जागृत बना सकता है।

मुक्ति, सौभाग्य एव दुर्भाग्य पुण्य के प्रभाव और परिणाम मे

मनुष्य का पुण्य और मन-पुण्य जब पुष्ट बनता है तो वह अपना सौभाग्य स्वय बनाता है तथा अन्तिम समय मे पुण्य का त्याग करके मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। लेकिन उसी मनुष्य के पुण्य जब क्षीण बनते हैं— वह अपने भटके मन को काबू मे नही कर पाता है तब उसी की असावधानी या पथ-भ्रष्टता उसके दुर्भाग्य को लाने वाली होती है। जैसी मनुष्य की चिन्तन-धारा चलती या बिगडती है, उसी के अनुसार उसके भाग्य का निर्माण होता है। जो निकाचित कर्म बध हैं, उनका तो फल भोगना ही पडता है, बाकी शुद्ध परिणामो का फल मोक्ष या स्वर्ग की ओर अवश्य ले जाता है।

यह शास्त्रपाठ है कि प्रभु के दिव्य वचनो को सुन कर श्रद्धावान् बनें, सम्यक्त्वी बने, पुण्य की कामना करें, धर्म की भावना भावें तथा अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को अपने सामने रखें, लेकिन विश्राम स्थल के तौर पर स्वर्ग की भी कामना करें । ऐसी भावना से आत्मा स्वर्ग से मनुष्य योनि मे आकर अपनी कर्मठ साधना से मोक्ष की प्राप्ति कर सकेगी । अत मन को उस दिशा मे लगावें जिससे पुण्यवानी बधे, कर्मों का नाश हो तथा पवित्र जीवन के साथ परम स्वरूप की आराधना कर सके ।



भावना और आचरण का मेल

जय जय त्रिभुवन धणी, करुणानिधि करतार……………

शीतल चन्दन नी परे, जपता निशि दिन जाप।

विषय कषाय थी ऊपनी, मेटो भव दुःख ताप॥

आर्त रौद्र परिणाम थी, उपजे चिन्ता अनेक।

ते दुःख कापो मानसिक, आपो अचल विवेक॥

परमात्मा के चरणों में भव्य हृदय द्वारा अपने आन्तरिक उद्गारों को समर्पित करने का जो प्रसंग है, वह प्रत्येक प्राणी के लिये उपादेय है। अन्तरात्मा की खोज में जिस व्यक्ति का ध्यान लगता है, वह उस दिशा में एकाग्र गति से आगे बढ़ता है और जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण रहस्यों का ज्ञान कर लेता है। इस विषय का उसको विज्ञान हो जाता है कि कौनसी बुरी प्रकृति किस प्रकार आत्मा को कर्म-बंध के चक्र में फंसाती है तथा कौन से विचारों से आत्मा आर्त एवं रौद्र परिणामों में भटक कर पतित बनती है? तब वह प्रभु से निवेदन करता है— हे भगवन्, मेरा मन आपके स्वरूप और स्वस्थान में रमण करना चाहता है तथा आप जैसी उत्कृष्ट आत्मिक शक्ति को प्राप्त करने का इच्छुक है, अतः मुझे बल दीजिये कि मैं ऊंची क्रिया-श्रेणी पर विचरण कर सकूं तथा अपनी भावना और आचरण का सुन्दर मेल बिठा सकूं।

क्या आप भगवान् के हृदय में बसना चाहते हैं ?

गहरी आन्तरिकता के साथ जब परमात्मा की प्रार्थना की जाती है तो प्रार्थी यही निवेदन करता है कि वह भगवान् के हृदय मे बस जाय। भगवान् का स्वरूप जिस अखडित रूप मे रहा हुआ है, उस अखडता के बीच जो आत्मिक शक्ति व्याप्त होकर विद्यमान है, वही भगवान् का हृदय है और उसी हृदय मे निवास करने को प्रार्थी का मन इच्छुक बनता है । क्या आप भी भगवान् के इस हृदय मे बसना चाहते हैं ?

यद्यपि शरीर विज्ञान की दृष्टि से हृदय की स्थिति बाई ओर फेफडों के बीच मानी जाती है, किन्तु वह प्रसग यहा नही है । यहा हृदय से अर्थ लिया गया है प्रभु की अखड आत्मिक शक्ति के पु ज से । ज्ञानीजन उसको हृदयाकाश भी कहते हैं । इसे असख्य आत्म-प्रदेशो का पु ज भी कह सकते हैं। आत्मा के असख्य प्रदेश माने गये हैं । उन प्रदेशो मे जीवन-शक्ति होती है । आत्मा का विराट् रूप इन्हीं आत्मप्रदेशो मे समाया हुआ रहता है । भव्य आत्माए अपनी बुद्धि को उस दिशा मे जागृत बना कर कामना करती हैं कि हम परमात्मा के इसी परम हृदय को प्राप्त करें ।

परमात्मा के उस परम हृदय मे बसने अथवा उसे प्राप्त कर लेने में एक ओर जहां यह शरीर भी बाधक है, वहां सही एव कर्मठ उपयोग लिया जाय तो यह शरीर इस लक्ष्य के लिये साधक भी बन सकता है ।

मन की गति एवं भावना की शक्ति :

भगवान् के हृदय मे बसने की कामना है तो शरीर को उसके लिये साधक बनाना होगा । शरीर उस काम मे कैसे साधक बनेगा ? शरीर के साथ मन जुडा हुआ होता है । शरीर का चालक वस्तुत मन होता है । मन जिस ओर शरीर को मोडना चाहता है, उस तरफ शरीर की गति बनती है। मन मे यदि दृढ संकल्प बन जाय कि मुझे स्थिर और शान्त रहना है तो शरीर मे भी कोई हलचल नही होगी । जब आपके शरीर मे किसी भी प्रकार की चचलता दिखाई देती है तो उसका अभिप्राय यही लिया जायगा कि आपके मन में चंचलता पैदा हो गई है । मन जब चचलता का संकेत देता है तो शरीर हलचल करता है । मन और शरीर की अवस्थाए इस प्रकार परस्पर सम्बन्धित होती हैं ।

कभी मनुष्य सोचता है कि मन सर्वथा अलग है और शरीर सर्वथा

भावना से चालित शरीर ।

मन की जैसी गति होगी उसी रूप में भावना की शक्ति दिखाई देगी । शरीर के कार्य उस गति एवं शक्ति के अनुसार चलेंगे । इन सबको अपने अधीन रख सकने वाली आत्मा होती है, बशर्ते कि वह इतनी सजग तथा अपनी आत्म-शक्ति के प्रति जागरूक हो ।

आत्मा, मन व शरीर के त्रिकोण में भावना के कोण :

जैसे रेलगाड़ी का इंजिन चलता है तो उसे चलाने वाला होता है ड्राइवर, लेकिन वह इंजिन की मशीन को चलाये बिना तो इंजिन चला नहीं सकेगा । ड्राइवर जब हत्थे को घुमाता है तब इंजिन की मशीन चलती है और वे उसके पहियों को गति देती है । चलता हुआ जो दिखाई देता है, वह इंजिन होता है । इसी प्रकार आत्मा को ड्राइवर, मन को मशीन तथा शरीर को इंजिन मानकर इस उदाहरण को समझिये । आत्मा का नियन्त्रण सर्वोपरि होता ही है । वह दूसरी बात है कि इंजिन को चला कर ड्राइवर सोने लग जाय । ऐसी हालत में इंजिन या तो अनियन्त्रित होकर दौड़ता हुआ दुर्घटनाग्रस्त होगा । आत्मा भी जब जागृत नहीं रहती है तो मन और शरीर अनियन्त्रित होकर पथ भ्रष्ट हो सकते हैं, अधिक पतित भी होते ही हैं । ड्राइवर का [illegible] के साथ में पूर्ण आवश्यक होता चाहिये तथा उसके व्यवहार की सतर्कता भी । [illegible] यदि मन को [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है तथा इंजिन की गति का [illegible] [illegible] है । [illegible] के लिए

इंजिन का मजबूत होना तो जरूरी है ही ।

गति अबाध रूप से चलती रहे—इसके लिये तीनों मे सन्तुलन आवश्यक है । इन तीनो को गति देती है भाप । वैसे ही आत्मा, मन एव शरीर का सन्तुलन रखने वाली होती है भावना । ड्राइवर चलावे और भाप वनी हुई नही हो तो न मशीनें चलेंगी और न इंजिन पटरी पर दौडेगा । भाप कैसे और कब कितनी लगाई जाय या छोड़ी जाय अथवा भाप कैसे और कव वनाई जाय—इसका नियंत्रण ड्राइवर के पास होना चाहिये । तभी ड्राइवर का नियंत्रण मशीनो पर रहता है । इसी तरह भावना आत्म-प्रेरित हो तो मन पर आत्मा का पूर्ण नियंत्रण बना रहता है, जिससे मन के जरिये शरीर की हलचल का नियत्रण भी आत्मा के पास ही रहता है । नियंत्रण का यह सिलसिला जितना स्वस्थ होगा, विकास की गति उतनी ही स्वस्थ एव सुघड रहेगी और इस सिलसिले का विगाड गति को विकृत वनायेगा ।

संक्षेप मे आत्मा, मन एव शरीर का एक त्रिकोण मान लीजिये, जिसके सारे कोण भावना के कोण होते हैं ।

प्रत्येक कार्य की प्रेरक भावना होती है :

प्रत्येक कार्य को करने की प्रेरणा भावना से ही मिलती है । जिसक जैसी भावना होती है, वैसी कृति एवं फल-परिणति होती है । कार्य वाहर दिखाई देता है और उसी से भावना की परख होती है । शरीर यदि हिंसा का कोई कार्य कर रहा हो तो सही अनुमान यही लगेगा कि उस शरीरधारी की भावना हिंसक हो रही है । पागल या नासमझ को छोड दें—बाकी यह अनुमान सही ही निकलेगा । हिंसा करते हुए शरीर मे अहिंसक मन या भावना का निवास होगा—यह सामान्य रूप से माना नही जा सकता है ।

ससारी आत्मा जहा भावना या मन पर पूरा नियंत्रण नही रहने से शरीर की स्थिति को पूरी तरह सम्हाल नही पाती है, वहा छद्मस्थ साधक भावना या उपयोग को संयम साधना से नियन्त्रित करता हुआ अपने शरीर को तदनुसार प्रयोग में लेता है । उपयोग का अर्थ यहा विवेक या भावना से लिया गया है । मन की जैसी भावना या जैसा उपयोग होगा, उसी रूप मे शरीर का व्यवहार वनेगा । उपयोग आत्मा की शक्ति है जो मन को संचालित करती हुई शरीर को उसके अनुसार कार्य प्रवृत्त बनाती है । किसी व्यक्ति के हाथ में, कल्पना करें कि एक तलवार है और यदि उसका उपयोग किसी गायन की तरफ है तो तलवार वैसे ही रहेगी, कुछ कर नही पायेगी । तलवार की तरफ

उपयोग जायगा, तभी उसका उपयोग हो सकेगा। कारण, तलवार किसी की हिंसा करने का इरादा थोड़े ही करती है— वह तो जड़तत्त्व है।"

जैसे तलवार नहीं समझती, वैसे ही आत्मिक-शक्ति के बिना हाथ भी कुछ नहीं समझता। यह हाथ स्वतः नहीं उठता। उठाने वाली भावना है, उपयोग है। किस तरकीब से हाथ को उठाता है, किस तरकीब से ले जाता है और जैसे किसी कोमल अंग को मल देता है, फिर भी इतना विवेक रखता है कि उस अंग को जरा सी भी ठेस नहीं पहुंचती है। इस प्रकार सावधानी और विवेक शक्ति रखने वाला हाथ नहीं होता है, बल्कि हाथ को संचालित करने वाली भावना होती है। यह उपयोग की शक्ति ही प्रत्येक कार्य की प्रेरक होती है जो प्रथमतः मन में होती हुई शरीर में व्याप्त होती है, तब शरीर पुण्य या पाप के कार्यों में प्रवृत्त होता है।

जीवन के आचरण में दुर्भावना, असावधानी व दुर्घटना का अन्तर :

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में आचरण का निर्माण अधिकांशतः भावना के आधार पर होता है। जब मन में किसी के प्रति दुर्भावना जागी हुई हो तो वह शरीर के माध्यम से उसका अनिष्ट करने में प्रवृत्ति करेगी। यदि पापकारी कार्यों की भावना प्रबल है तो वह शरीर को पापकारी कार्यों की उत्तेजना प्रदान करेगी ही। पापी मन अपने पाप में वचन और काया को भी डुबोता ही है। दुर्भावनापूर्ण आचरण मन, वचन और काया - तीनों को अशुभ कार्य के एक गठजोड़ में बांधता है।

असावधानी व दुर्घटना के रूप में ऐसा प्रसंग बन सकता है, जहां भावना तो पापकारी कार्य करने की नहीं होती है, उपयोग भी नहीं है, फिर भी गफलत में या बिल्कुल अनजान में कोई पाप-कार्य हो जाता है। जैसे चल-ते या दौड़ते में पैर किसी जन्तु पर पड़ गया और वह मर गया तो वैसी हिंसा निकाचित कर्म-बंध कराने वाली नहीं होगी। कर्म-बन्धन अवश्य होगा, लेकिन उससे छुटकारा जल्दी हो जाएगा।

आज के नागरिक व्यवहार में भी कानून मुख्य भावना की ओर ध्यान देता है। कैसा भी अपराध हो और उसके पीछे अपराध करने की नीयत साबित नहीं होती है या वह अपराध अचानक दुर्घटना के रूप में हो जाता है तो उसमें दंड नहीं मिलता है। बुनियादी तौर पर यह माना जाता है कि अपराध का आधार दुर्भावना होनी चाहिये।

कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन में भावना का अत्यधिक महत्त्व होता है। यही भावना उच्च-श्रेणी की बनती जाय तो चन्द क्षणों मे वह मनुष्य को मोक्ष की देहरी तक पहुंचा देती है और यही भावना जब नीचता की ओर बहे तो जीवन को पतन के गहरे गर्त मे गिरा देती है।

भावना और आचरण का फलभोग आत्मा को लेना होता है :

यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिये कि यदि शरीर का व्यवहार अशुभ काम मे लग रहा है तो उस अशुभ काम की एवज मे अशुभ कर्मों को बाधने वाली आत्मा होगी, न कि शरीर। शरीर तो स्वयं कर्म-फल भोग के रूप मे आत्मा को मिलता है। आत्मा ही वास्तव मे कर्त्ता होती है, तथा फल की भोक्ता भी। इंजिन पटरी से नीचे उतर जायगा तो उसका दड ड्राइवर को ही दिया जायगा। कर्म-बन्धन आत्मा ही करती है, किन्तु वह शरीर, मन और इन्द्रियो को माध्यम बना कर कर्म-बन्धन करती है। जिस दूकान के नाम से दूकानदार कर्ज लेता है- उस कर्ज के लिये दूकान जिम्मेदार नहीं होती। दूकानदार कई दुकानें बदल ले, तब भी कर्ज चुकाने की जिम्मेदारी से वह छूट नहीं सकता है। वैसे ही यह शरीर रूपी दूकान है और मन, वचन, काया के योग उस दूकान के साधन, सामान आदि हैं। दूकानदार आत्मा है। आत्मा अच्छे या बुरे कर्म करती है तो उसे उसका फल-भोग—वह कई शरीर बदल दे—तब भी लेना ही पडता है।

शास्त्रीय दृष्टि से स्पष्ट उल्लेख है कि जहा मनुष्य के आन्तरिक जीवन की भावना धर्म करने की है— पाप का परित्याग करने की है तो वह मनुष्य अपनी भावना तक ही नही रहेगा, बल्कि उस भावना को वह अवश्य ही कार्य रूप में परिणत करेगा। उसको कार्यान्वित करने से मन, वचन एवं काया के योगों मे पवित्रता का सचार होगा। तब भीतर बाहर के स्वरूप मे एकरूपता आयेगी और वही एकरूपता भावना तथा आचरण मे भी व्याप्त होगी।

भावना और आचरण का परस्पर प्रभाव :

कभी कोई चिन्तक ऐसा सोच लेता है कि भरत महाराज ने अपने शीशमहल मे केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था तो वहां उन्होने मन, वचन, काया के योग को सयमी आचरण मे कहा परिवर्तित किया ? केवल भावना ही भावना से केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। ऐसा स्थूल बुद्धि से सोचा जा सकता है। जिनका गहन चिन्तन हैं, वे भावना और आचरण के परस्पर प्रभाव का सूक्ष्म दृष्टि से ही विश्लेषण करते हैं।

भरत महाराज अपने शरीर की दृष्टि से तो शीशमहल में खड़े थे और वहीं पर उनकी भावना का प्रादुर्भाव हुआ, लेकिन वह प्रादुर्भाव एक निमित्त से हुआ। उनकी अंगुली की अंगूठी नीचे गिर गई— शीशे में उन्हें दिखाई दिया कि अंगूठी के गिर जाने से अंगुली की शोभा घट गई है। इस पर उनकी भावना का प्रवाह चला। वे आगे बढ़े—एक-एक आभूषण उतारते रहे और नग्न सत्य का अनुभव करते रहे। तब शरीर-स्वरूप को उन्होंने गहराई से परखा। इससे उनके मन में अनिर्वचनीय भावना का जागरण हुआ और आध्यात्मिक धारा बह चली। वह धारा इतनी वेगवती हुई कि वह शीघ्र ही शरीर के अणु-अणु में व्याप्त हो गई— शरीर के अन्दर के प्रत्येक आत्म-प्रदेश में प्रवेश कर गई। हाथ में आत्म-प्रदेश हैं, आंख की पलकों में आत्म-प्रदेश हैं, शरीर के प्रत्येक अंगोपांग में आत्म-प्रदेश हैं और वहां संयमी जीवन की भावना की उज्ज्वलता आत्म-प्रदेशों में आती है तो वह सर्वत्र व्याप्त होती है और संयमी भावना का परिणाम परिपूर्ण सिद्धान्त के रूप में परिणत होता है। यह रूप मन, वचन, काया की एकरूपता का बन जाता है। प्रमत्त स्थिति में केवलज्ञान नहीं हो सकता है। अतः प्रमाद त्याग के साथ-साथ भरत महाराज की गुणस्थान—स्थिति ऊपर और ऊपर चढ़ती गई। केवलज्ञान प्राप्त होते ही भरत महाराज ने राजमहल छोड़ दिया और वे केवलियों की परिषद् में सम्मिलित हो गये।

यदि आत्म-भावना का संचार प्रत्येक अवयव में होता है और परिपूर्ण केवलज्ञान की स्थिति रहती है तो वैसा पुरुष संसार, घर अथवा किसी स्थान में आबद्ध होकर नहीं रहता है। माता मरुदेवी के भावना-उत्थान के सम्बन्ध में भी भावना सम्बन्धी इसी सत्य को समझ लेना चाहिये। शुद्ध-भावना की परिणति शरीर के प्रत्येक अवयव में होती है याने कि प्रत्येक आचरण में होती है और उपयोग के साथ रहती है तभी कोई सच्चा आराधक बन सकता है।

भावना और आचरण का मेल : विवेक के धरातल पर :

यह मेल तब तक कामयाब नहीं बनता, जब तक इसे विवेक के धरातल पर नहीं जमाया जाता । दशवैकालिक सूत्र मे बताया है कि साधक की प्रत्येक क्रिया विवेकपूर्ण होनी चाहिये— वह हाथ-पैर, वाणी, मन—सबका संचालन विवेक एवं सयम के साथ करे । यह विवेक और सयम जब मन, वचन, काया के योग मे समाता है तो सारे योग व्यापार मे एकरूप पवित्रता प्रवेश करती है ।

विवेक के धरातल पर जब भावना और आचरण का शुभ परिणामो के साथ मेल होता है तो आत्मा ऊर्ध्वमुखी बनती है । ऊर्ध्वगति या अधोगति अपनी ही भावना मे रहती है क्योंकि भावना ही वचन एव आचरण को अपने अनुरूप ढालती है ।

भावना और ध्यान साधने से आराधना बढ़ती है :

भावना मे अशुभ परिणामो का जोर रहता है तो कलुषित आर्त और रौद्र-ध्यान प्रबल बनते हैं किन्तु शुभ परिणामो का प्रभाव बढने पर धर्म एव शुक्ल-ध्यान आत्मप्रदेशों मे व्याप्त बनते हैं । जिन आत्माओं का उज्ज्वल ध्यान रहता है, वे आत्माए ससार को भी उज्ज्वल स्तर पर लाती है । कोरी मस्तिष्क की कला को भावना न मान लें—भावना का सम्बन्ध अन्त करण की अनुभूति के साथ जुडा हुआ होता है जो अपनी शुद्धि के साथ ध्यान-शुद्धि का कारण बनती है ।

आप इस सत्य को हृदयगम कर लें कि जहा शुभ भावना और शुभ ध्यान की साधना है, वहा शुभ आराधना का विस्तार होता ही है । तब जो आत्मानुभूति होती है, वही जीवन को पवित्रता की ओर ले जाती है ।



विद्या को फलवती बनावें

कि यह एकत्व किस प्रकार साधा जा सकता है ?

एकत्व का अर्थ होता है एकता के सूत्र का सम्पादन करना । सिद्ध सिद्ध भगवान् के साथ एकत्व सध जाना परिपूर्ण स्थिति का प्रतीक है, किन्तु इस एकत्व की परिपूर्ण स्थिति एकदम प्राप्त नहीं हो जाती है । यह एकत्व भी क्रमिक एव कठिन साधना का विषय होता है । इस समय मानव जीवन मे बैठे हुए हैं तो इस एकत्व की साधना यहीं से प्रारम्भ हो जानी चाहिये । वैसे भी मानव जीवन को दुर्लभ इसीलिये कहा गया है कि साधना का सर्वश्रेष्ठ क्षेत्र यही जीवन होता है तथा इसी जीवन मे उच्चतम उपलब्धियां और यहा तक कि सिद्ध स्थिति भी प्राप्त की जा सकती है । इसी जीवन मे एकत्व की साधना को भी सफलतापूर्वक साध सकते है ।

यह मानव जीवन है तो पहले मानव–मानव के बीच एकत्व की स्थापना होनी चाहिये । यो तो उद्देश्य बहुत व्यापक है कि विश्व के प्राणी मात्र के साथ एकत्व की भावना बने और उस दृष्टि से मानव–मानव के साथ प्रारम्भिक रूप से इस एकत्व की भावना का निर्माण हो । लेकिन यह उद्देश्य भी कम व्यापक नहीं है । मानव–मानव को एकता के सूत्र मे पिरो कर देखना–यह अति महत्त्वपूर्ण है । इसके लिये सबसे पहले अपने मानस मे मानवता का धरातल बनना चाहिये और मानवता से परिपूर्ण सवेदनशीलता पैदा होनी चाहिये, जिसका अभिप्राय यह माना जायगा कि आपके हृदय मे प्रत्येक मानव साथी के लिये हित–कामना का उदय हो चुका है । जिस के प्रति हित कामना होती है, उसके सारे सुख दु.ख के साथ आपका मन जुड जाता है । जब इस प्रकार निर्लिप्त भावना से मन सम्पूर्ण मानव समाज की हित कामना से सम्बद्ध हो जाता है तो वहा मानवीय एकत्व का सूत्र जुड गया है—ऐसा मानना चाहिये । मानव जीवन एव मानवीय धरातल पर रहते हुए मानव–मानव के जीवन की सर्वांगीण एकता का सम्पादन किया जाय—यह इस जीवन का प्राथमिक लक्ष्य बनना चाहिये ।

प्रत्येक मनुष्य के मन मस्तिष्क मे मानवीय भावना विशाल रूप मे तभी अभिव्यक्त हो सकती है, जब वह अपने जीवन को सम्पूर्ण मानवता के साथ एकत्व की भावना के साथ जोड देता है । यह मानवीय एकता का सूत्र व्यक्ति–व्यक्ति से सम्बन्धित होता है, अत व्यक्ति–व्यक्ति का आन्तरिक जीवन जितना स्वार्थ, अहकार एव अन्य विषम वृत्तियो से दूर हटकर समता के क्षेत्र

में जितना-जितना हमारा भारतीय परिवार में घनिष्ठ होगा, उतना ही उसके सम्बन्ध में भारतीय एकता का पुरुषार्थ भी बढ़ेगा।

मेरा मानना है कि इस भारतीय एकता का प्रारम्भ अपने बाल-[illegible] से ही हो जाना चाहिये, [illegible] इतना कोमल होता है कि उस पर जिस प्रकार के संस्कार डाल जायेंगे, वे ही पुष्ट बन जायेंगे तथा इस भारतीय एकता का आधार होगा, इस प्रकार की शिक्षा का उपाय [illegible]। बाल्यकाल से ही शिक्षा [illegible] भारतीय एकता का [illegible] की भांति [illegible] हो सकेगा।

सारे विद्यालय मानवता के मन्दिर बनें !

इस विद्यालय में और सारे विद्यालयों में छात्रों को विद्यादान देने का जो प्रयत्न किया जाता है, विद्यालय के संचालक और शिक्षक इस बात की परीक्षा करें कि उनके विद्यालय में भारतीय एकता के संस्कार छात्रों पर डाले जाते हैं या नहीं। [illegible] भाषा के नाम से जातिगत, सम्प्रदाय-[illegible] अथवा अन्य प्रकार की विषमताओं की समाप्ति हो और [illegible] कोई विद्यालय न रहे जो विद्यालयों के [illegible] मानवता का मन्दिर बनाया जाना चाहिये।

मानवतापूर्ण चरित्र होना चाहिये तो शिक्षा पद्धति भी मानवीय गुणों को प्रेरित करने वाली होनी चाहिये। शिक्षा, शिक्षक एव शिक्षार्थी की त्रिवेणी जब मानवीय गुणो से ओतप्रोत होगी, तब ही विद्यालय मानवता के मन्दिर बन सकेंगे। ये तभी मानवीय एकता के सूत्रधार भी होंगे।

विद्या की व्याख्या तथा विद्या का वास्तविक आधार

विद्या की व्याख्या छोटी सी है लेकिन उसमें समग्र भारतीय दर्शन का सार भरा हुआ है। वह व्याख्या इस प्रकार है–

सा विद्या या विमुक्तये।

विद्या वही है, जो विमुक्ति के लिये हो। मुक्ति की प्रेरणा जिससे मिलती हो विमुक्ति की राह जो दिखाती हो, वही विद्या वास्तविक विद्या है। मुक्ति किससे ? मुक्ति बन्धनो से, मुक्ति विकृतियो से तथा मुक्ति भौतिक तथा आत्मिक विषमताओ से। यह मुक्ति मिलती है स्वतंत्रता की अर्चना से, सद्‌गुणो की आराधना से तथा समता की साधना से। इस समता का वातावरण ससार मे भी हो तो आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी। भौतिकता एव आध्यात्मिकता के क्षेत्र कोई परस्पर विरोधी क्षेत्र नही होते हैं, वल्कि ये दोनो क्षेत्र एक दूसरे के पूरक होते हैं। समता जब मन, वचन एवं तन मे समाविष्ट हो जाती है तो भौतिकता सदा आध्यामिकता से नियत्रित होती है तथा आध्यामिकता निजत्व को विसर्जित कर भौतिकता को सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय समर्पित कर देती है। यह विसर्जन एव समर्पण वही कर सकता है, जिसने सच्ची विद्या प्राप्त की हो।

विद्या का वास्तविक आधार मुक्ति की भावना पर टिका हुआ होता है। मुक्ति की भावना के साथ ग्रहण की हुई विद्या मुक्ति की दिशा मे अग्रगामी बनाती है। विद्या का उद्देश्य जीवन की समग्र योग्यताओ का सम्पादन करना होता है। ये योग्यताएं एकागी नही होती है, सर्वांगीण होती हैं। विद्या मुक्ति-दायिनी तभी बन सकती है जब वह जीवन के दोनो पक्षो को सुन्दर बनाने वाली हो। वह बाह्यपक्ष मे भी सामर्थ्य प्रदान करे तथा आन्तरिक पक्ष को भी चैतन्य बना दे–तभी वह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को योग्य बना सकती है। विद्या के इस प्रकार दो रूप माने जा सकते हैं–एक व्यावहारिक शिक्षा तो दूसरी आध्यात्मिक विद्या। बाह्य जीवन को व्यावहारिक शिक्षा से स्वावलम्बन मिलता तो आध्यामिक विद्या आत्मस्वरूप को उज्ज्वल बनाने का मार्ग दिखाती है। जीवन के दोनो पक्ष विकृतियो से विमुक्त बने–यह विद्या का फलितार्थ प्रकट होना चाहिये।

विद्या का फलितार्थ एवं विद्यार्थी की निष्ठा

जीवन में प्राप्त कर आध्यात्मिक पक्ष [illegible] [illegible] [illegible] को जीवन गुण-सम्पन्न बन जायगा । इन गुणों में सबसे बड़ा गुण माना गया है विनय का और विनय के लिये कहा गया है कि यदि उसमें वास्तविकता होगी तो विद्या का फलितार्थ सबसे पहले विनय के रूप में प्रकट होगा—

विद्या ददाति विनयं ...

नीतिकारों ने विद्यार्थी की प्रारम्भिक गुणसम्पन्नता की दृष्टि से ही संकेत किया है कि जो विद्यार्थी ज्यों ज्यों विद्या ग्रहण करने लगा है तो उसकी पहली ही कसौटी यह है कि वह विनम्र बन जाना चाहिये । यदि विद्या का प्राथमिक प्रभाव विनय के रूप में प्रकट न हो तो विद्या की वास्तविकता में शंका खड़ी होगी ।

इस कथन में जीवन की महत्त्वपूर्ण परिस्थिति का उल्लेख किया गया है कि विद्या के प्रभाव से विनय आना चाहिये, न कि अभिमान । जो किसी भी रूप में अपनी विद्या का अभिमान करता है, अथवा कि अपना व्यवहार अभिमानपूर्ण रखता है उसे विद्वान भी कैसे कह सकते हैं ? किसने कितना विद्याध्ययन किया और किसने नहीं किया—इसका पाठ्यक्रम की दृष्टि से तो परीक्षण विद्यालय की कक्षाओं में हो जाता है क्योंकि पाठ्यक्रम का सम्बन्ध [illegible] [illegible] तक ही सीमित रहता है किन्तु विद्या का परीक्षण तो विद्यार्थी के जीवन से सम्बन्धित होता है तथा [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है कि [illegible] [illegible] किया किसी [illegible] ।

से ससार को छोड़ते हैं लेकिन सम्पूर्णतया उस ससार के सस्कारों को छोड़कर थोड़े ही आते है ? यदि ससार मे सुन्दर सस्कारो के निर्माण की व्यवस्था है तो उन सस्कारो के साथ दीक्षित होने वाला साधना के क्षेत्र मे भी सुन्दर प्रगति करेगा। वस्तुत ससार एव धर्म के क्षेत्र पृथक्–पृथक् नही होते, वे अन्योन्याश्रित होते है तथा इस दृष्टि से ससार के सामान्य वातावरण का सुधार भी अभीप्ट होता हे ताकि उसकी सही प्रतिच्छाया आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी सही वातावरण की पृष्ठभूमि वना सके। इसके लिये शिक्षा प्रणाली मे अपेक्षित सुधार लागू किये जाने चाहिये ताकि आरम्भिक जीवन मे ही वालक को सच्चा नागरिक एव सच्चा साधक वनाने के लिये समर्थता के सस्कार प्रदान किये जा सके।

शिक्षाप्रणाली की गुणवत्ता का अंकन उसके फल से किया जाय

जैसे किसी वृक्ष का महत्त्व उसके फल के स्वाद से आका जाता है, उसी प्रकार शिक्षाप्रणाली की गुणवत्ता का अकन उसके फल से किया जाना चाहिये और यही सामान्य पद्धति है। आपको मलमल लेनी है तो आप जानते है कि वढ़िया मलमल किस मिल की होती है और उसी मिल की पहिचान से उस मलमल को खरीदते है तो मिल की ख्याति किस आधार पर है ? मिल की ख्याति उसके उत्पादन से होती है। उसी प्रकार शिक्षा प्रणाली की गुणवत्ता भी उस के उत्पादन से जाननी होगी कि उस प्रणाली मे प्रशिक्षित विद्यार्थी किस चरित्र के साथ तैयार होते है ? इसी लक्ष्य के साथ मेरी राय मे वर्तमान शिक्षा प्रणाली मे कुछ प्रभावकारी सशोधन इस रूप मे किये जाने चाहिये।

विद्या से विनय की प्राप्ति हो—यह पहली वात है, कारण वैसी प्रणाली से ही अनुशासन के भाव मूल मे ही जम जायेंगे और वे विनय तथा अनुशासन के भाव विद्यार्थी के सम्पूर्ण जीवन मे परिवर्तन ला देगे। वह परिवर्तन निश्चय ही समाज, राष्ट्र व विश्व के वातावरण मे शुभ परिवर्तन लाएगा ही।

शिक्षा पद्धति मे इस उद्देश्य के लिये नकल की भावना खत्म हो जानी चाहिये। पश्चिम से जो आता है, सव सोना होता है—यह मोहनिद्रा टूट जानी चाहिये। गुण सभी स्थानो से लिये जाये, लेकिन अपना निजत्व उसमे प्रमुखता से कार्य करना चाहिये। इस दृष्टि से हमे अपनी गुरुकुल पद्धति को स्मरण करना चाहिये तथा उसके मूलवार पर ही नई शिक्षा पद्धति निर्मित

[illegible] । [illegible] विद्यार्थी का [illegible] करेंगी, [illegible] श्रेष्ठ [illegible] का [illegible] तथा [illegible] विद्यार्थी [illegible] सके [illegible] । [illegible] किया जा [illegible] होना [illegible] की बुनियाद [illegible] में दिखी है ।

[illegible] ऐसा न हो जो प्रशिक्षित [illegible] की [illegible] । [illegible] होनी चाहिये कि जिस क्षेत्र में जितने प्रशिक्षितों की आवश्यकता हो तथा [illegible] की योग्यता के आधार पर जितने [illegible] उस क्षेत्र में प्रशिक्षित किया जाय । [illegible] की बेकारी [illegible] है [illegible] — [illegible] की [illegible] होती है । [illegible] विद्यार्थी [illegible] — [illegible] मानसिक [illegible] का [illegible] जाता है, [illegible] का [illegible] इस प्रकार होना चाहिए कि बेकार भी अपने [illegible] । [illegible] जब ऐसी [illegible] श्रम की [illegible] हो जायगी । शिक्षा [illegible] होना चाहिये कि [illegible] का अपना निर्वाह स्वयं [illegible] श्रम के आधार पर चलाना होगा । ऐसी व्यवस्था के [illegible] ।

आत्मिक अनुशासन का मूल्य

वन्दन का अभिन्न सम्बन्ध है कि विनय के बिना किया गया वन्दन निरर्थक होगा। विनय की भावना एव वन्दन की क्रिया साथ मे जुडकर ही वन्दन को वास्तविकता प्रदान करती है। विनय से वन्दन होता है तो वन्दन मे विनय का सद्गुण विकसित बनता है।

ससारी आत्माओ के लिये सामान्य रूप से पाप या दुर्गुण तो जैसे स्वभाव मे आ गये है याने कि वे विभाव रूप मे चलते है और उनके लिये सद्गुणो की उपलब्धि अभ्यास एव साधना से ही सभव बनती है। इसी प्रकार विनय का सद्गुण भी बिना साधना के साधा नही जा सकता। मनुष्य के मन मे मान ने जो स्थान घेर रखा है, उसे वहा से हटाये बिना विनय की प्रतिष्ठा कैसे की जा सकती है ? मान कितना बड़ा दुर्गुण है तथा उसने ससारी आत्माओ को किस प्रकार अपने वश मे कर रखा है—इसका कम-ज्यादा अनुभव बहुत सो को है। कुछ भौतिक प्राप्तिया हो जाती है, कोई छोटा बडा पद मिल जाता है अथवा कुछ ऊ ची शिक्षा तक चढ गये तो मनुष्य का मन मान से भर जाता है और वह उस मान मे अपने को ही सब कुछ मानकर दूसरो की अवहेलना करने लग जाता है। यहा तक कि कुछ व्यक्ति धार्मिक क्षेत्र भी थोडी बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं—यदि वे भी विवेक नही रखें मान उनका भी पीछा नही छोड़ता है।

ऐसे मान को जो अपने मन से निकाल देता है, वही विनय के गुण को ग्रहण कर सकता है। मान मे जो अकड़ होती है—सिर तान कर चलने और बर्ताव करने की जो आदत होती है वह तभी छूटती है, जब मन मे नम्रता के भाव आते हैं। जिसका मान नम जाता है, वही नम्र बन सकता है और कोई भी नम्र बनता है, अपने से किसी महान् व्यक्ति के सामने ही। इसी कारण वन्दन को विनय का साधन माना गया है। वन्दन परमात्मा को किया जाता है, गुरु को किया जाता है और अपने से बडो को किया जाता है तो जब वन्दन किया जाता है मन की वृत्तिया मृदुल बनती हैं और काया नमन करती है। यह वन्दन का अभ्यास ज्यो-ज्यो गहरा बनता जाता है, विनय का सद्गुण भी मन मे स्थायी रूप से बस जाता है।

विनय धर्म का मूल होता है :

महावीर प्रभु ने उद्घोषणा की कि विनय धर्म का मूल होता है—विणयो धम्मस्स मूल। विनय को धर्म का मूल क्यो कहा गया है तथा धर्म क्या होता है ? सीधे सादे शब्दो मे धर्म कर्त्तव्य का नाम है। वे कर्त्तव्य

को

जिसमें आत्मा [illegible] का अनुभव करे—जिससे उसके जीवन में आनन्द का [illegible] रहे । इन [illegible] का सारे नैतिकता के रूप में पालन किया जाये — [illegible] के रूप [illegible] मनुष्य के मन का [illegible] पर [illegible] है । फिर धर्म का मूल [illegible] को बनाया गया है ।

[illegible] सब [illegible] का आध्यात्मिकता के साथ [illegible] पालन किया जा सकता है, जब मन में [illegible] का भाव उत्पन्न हुआ हो । [illegible] होता है [illegible] मन में [illegible] अर्थात् [illegible] की कोमल वृत्तियों का विकास । शरीर और मन [illegible] जाती है, [illegible] भी [illegible] है [illegible] के [illegible] किया [illegible] रहता है । मन की कोमल वृत्तियाँ [illegible] की [illegible] के परिणाम [illegible] शुद्ध मन को आध्यात्मिकता [illegible] देती है । [illegible] कोमल वृत्तियाँ [illegible] को [illegible] जाती है [illegible] और [illegible] हो जाता [illegible] है । [illegible] कोमल वृत्तियाँ [illegible] होता है जो [illegible] । इन्हीं कोमल वृत्तियों का [illegible] होता है [illegible] और [illegible] कारण इन [illegible] को धर्म का मूल बनाया गया है ।

आत्मा की आवाज के शासन का जो अनुसरण करता है, उसे ही अनुशासन का निष्ठावान पालन-कर्त्ता मानना चाहिये । किन्तु जब तक किसी व्यक्ति का इतना सहज विकास नही हुआ हो कि वह अपनी आत्मा की आवाज को सुन, पहिचान व समझ सके तो उस समय वह किस अनुशासन का पालन करे ? यह प्रश्न आप लोगो के मन में उठ सकता है । जिसकी भी आत्मा की आवाज अपने से अधिक बलिष्ठ प्रतीत हो तो उस बलिष्ठ आत्मा का अनुशासन ग्रहण कर लेना चाहिये । अधिक परखबुद्धि का भी विकास न हुआ हो तो परमात्म-स्वरूप का अनुशासन तो नि:शक बनकर ग्रहण किया जा सकता है । जिन्होने अपने आपको वीतराग बना लिया और जो आत्म-साधना को परिपूर्ण बनाकर मोक्ष के वासी बन गये, उनके आत्मस्वरूप को अपना पथ-दर्शक मान लेना चाहिये ताकि उस परम स्वरूप के प्रकाश मे सुधर्म एवं सुगुरु की पहिचान करके उनके शासन मे चलने का अभ्यास बनाया जा सके ।

इस प्रकार के अनुशासन का पालन आत्म-वृत्तियो को उच्छृंखलता से दूर हटाता है । इन्द्रिया और मन मनमाने तौर पर ससार के विषयो मे जब तक भटकते रहते है, मनुष्य को अपने सच्चे कर्त्तव्यो का भान ही नही होता है तथा भान होना भी है तो उन पर चल पाना कठिन बना रहता है अत: इन्द्रियो और मन को व्यवस्थित रूप से सही मार्ग पर चलाने के लिये यह आत्माभिमुखी शासन अनिवार्य है ।

अनुशासन इसी रूप मे रहेगा कि जब भी इन्द्रिया और मन सही मार्ग से नीचे उतरे कि अन्दर से उनके निरोध की आवाज उठे और वे उसे पालने के लिये बाध्य हो जायें । वे उद्दड न रहकर सयम के पालनकर्त्ता बन जाये । मूल रूप मे वे बाहरी झूठे आकर्षण से छूट कर अन्दर के आनन्द मे इस प्रकार रम जायें कि अन्दर की ही आज्ञा को वे सुनें और उसे माने । वे आत्माधीन बन जायें यही अनुशासन है ।

विनय और अनुशासन का पारस्परिक सम्बन्ध

विनय आत्मा का गुण होता है और अनुशासन आत्मा का शासन । किसी व्यक्ति का कही पर शासन कैसे और कब तक चलेगा, जब तक कि उसमे कोई न कोई विशिष्ट गुण विद्यमान रहेगा । गुणहीन व्यक्ति सही अर्थ मे कभी शासन नही कर सकेगा । उसी तरह आत्मा का शासन भी तभी स्थापित हो सकेगा, जब उस आत्मा के भीतर कर्त्तव्य का बोध हो-धर्म की सज्ञा हो । यह बोध उत्पन्न होता है सद्गुणो के विकास से, कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा-भावना से ।

इन सद्गुणों का मूल सद्गुण है विनय, जो अपनी कोमलता के साथ सद्गुण-मय पृष्ठभूमि का निर्माण करता है । जहा विनय का विकास हो जाता है, वहा सच्चे अनुशासन की भी स्थापना हो जाती है । इस दृष्टि से दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध प्रगाढ होता है ।

इसे इस रूप मे कह सकते है कि विनय के कधो पर चढकर ही अनुशासन का वर्चस्व प्रभावशाली दिखाई देता है । जो अनुशासन का भाव किसी आतक की भूमिका पर पैदा होता है, वह स्थायी नही बन सकता तथा वैसे भाव से आत्म–विकास की स्थिति भी नही बनती है । अनुशासन का भाव जो अन्दर से पैदा होगा, वही स्थायी भी बनेगा तथा आत्मजागृति का कारण भी होगा। अन्दर से पैदा होने वाला अनुशासन सदा विनय के सद्गुण के आधार पर विकसित होता है । अनुशासन मे मनुष्य को झुकना होता है और वह झुकना जब विनय से होता है तो वह नि स्वार्थ रूप से होता है तथा वह झुकना दूसरो का सम्बल बनता है । आतक या भय से जो झुकता हैं, वह विवशता से झुकता है और भीतर ही भीतर दुर्भावनाओ का तानाबाना बुनता रहता है ।

अत अनुशासन विनय की भूमिका पर आना चाहिये। मन की कोमल वृत्तियो तथा शरीर की सेवापूर्ण प्रवृत्तियो के साथ जब समुन्नत आत्मा का अनु-शासन स्थापित होता है तो वास्तव मे जीवन की सम्पूर्ण साधना का वह मुख्य अग बन जाता है ।

विनय एवं अनुशासन से जीवन का भव्य निर्माण

विनय और अनुशासन रूप जीवन के इन दोनो मूल अगो की पूर्ति कर ली जाय तो मनुष्य सच्चे अर्थो मे मानव धर्म का पालन कर सकता है, नैतिकता को जुटा सकता है तथा भव्य तरीके से जीवन का निर्माण कर सकता है । इन दो अगो की कमी जीवन की कमी है । इन दो के अभाव मे मनुष्य स्वच्छन्द बनता है और कुव्यसनो मे पडकर जीवन को नष्ट कर देता है । उसको इसका भी खयाल नही रहता है कि मैं क्या कर रहा हू ? कुसगति की चपेट जल्दी लग सकती है और सुसगति का अवसर जल्दी नही आता है । इसका कारण यह है कि यह आत्मा अनादिकाल से कुसगति मे चलती रही है– वह कुव्यसनो की अभ्यस्त बनी हुई है । आत्मा को इस मार्ग से दूर हटाने के लिये विनय और अनुशासन की आवश्यकता है कि आत्मा का रुझान सद्गुणो की तरफ मुडे ।

आत्मा यदि विनय एव अनुशासन की अभ्यस्त बन जावे तो अधिक

प्रयास के बिना ही दुर्गुणो से मुक्ति मिल जायगी तथा उनका स्थान फिर सद्गुण घेर लेंगे । फिर तो सहसा जीवन यात्रा सही मार्ग पर चल पड़ेगी । पटरी पर से गाडी नीचे उतर जाय तो उसे फिर से पटरी पर चढाने की जरूरत रहती है । वापिस चढाने मे समय लग सकता है, कठिनाइया आ सकती हैं तथा पुरुषार्थ करना पड सकता है लेकिन पटरी पर चढ जाने के बाद तो मामूली सकेत ही पर्याप्त होता है ।

वैसे ही अभी जीवन की गाडी पटरी से उतरी हुई है और दुर्घटना घटने का खतरा हर समय बना हुआ है । जीवन की गाडी की क्या दुर्दशा बनी हुई है—इसका विज्ञान भी मनुष्य के मस्तिष्क मे नही आ पा रहा है । जब बूढे व्यक्तियो के मस्तिष्क मे भी गन्तव्य स्थान का निर्णय नहीं है तो वे अपनी सन्तान को सही दिशा मे कैसे मोड सकते है ? वे स्वय बिना सडक के इधर-उधर गोते खा रहे है—कभी पगडडिया मिलती है मगर सडक का रास्ता नही मिलता है तो वे बच्चो को कैसे चला सकते है ?

आज इस सडक की जरूरत है । इस पर बच्चे भी आसानी से चल सकते हैं । बुजुर्ग उनको उगली पकड कर प्रारभ मे चलादे लेकिन जल्दी ही वे स्वय भी चलने मे समर्थ बन सकते है। यदि बुजुर्ग शुरु से ही ऊटपटाग रास्ते पर पड गये सो पड गये, लेकिन वे बच्चो को तो सावधानी दिला सकते है कि मैं मार्ग भटक गया हू, तुम लोग सही मार्ग पर चलो । सही मार्ग पर चलने या चलाने की स्थिति ही विनय और अनुशासन की स्थिति है ।

विनय और अनुशासन की स्थिति मे कमी क्यो आई है ?

बच्चो मे विनय और अनुशासन की स्थिति मे कमी क्यो आई है—इसके बारे मे आपने कभी सोचा और अनुसधान किया है ? इसका कारण है बुजुर्गो के जीवन मे विनय और अनुशासन के व्यवस्थित रूप का अभाव । जिस परिवार मे बडे इस मार्ग पर चलते हो तो फिर छोटो को अधिक शिक्षा देने की आवश्यकता नही होती है । लेकिन जहा बडे और बुजुर्ग सदस्य विनय और अनुशासन की भूमिका पर नही चलते, वहा बच्चो मे भी वैसे ही विपरीत सस्कार जम जाते है । बच्चा तो केमरे की फिल्म के तुल्य होता है जिस पर आपके चित्र उभरते जाते है । आप यह नही सोचते कि जिस प्रकार के विनय एव अनुशासन-पूर्ण व्यवहार की अपेक्षा बच्चे से रखी जाती है, वैसे ही व्यवहार का आप भी अभ्यास करे । स्कूलो मे बच्चो से डायरी भरवाई जाती है। मैं कहता हू, बुजुर्ग भी डायरी भरे कि उनके जीवन मे विनय और अनुशासन

के प्रसंग से कितनी नियमितता या अनियमितता है ? ऐसा करने से बच्चो का डायरी भरना भी सार्थक बन सकेगा ।

बच्चो मे प्रारभिक सस्कार उनके माता-पिता से आते है । इसमे भी माता के सस्कार मुख्य होते है । माता पिता यदि अपने व्यवहार मे कालापन दिखाते है, झूठ बोलते हैं या अन्य प्रकार से दुराचरण का सेवन करते है तो बच्चे मे भी वैसे सस्कार पनपेगे और इसके विरुद्ध माता-पिता का व्यवहार शुद्ध व पवित्र होगा तो बच्चे मे भी विनय एव अनुशासन के सस्कारो का समावेश होगा ।

आप अभी वृद्धावस्था मे हो तब भी अपने व्यवहार को सुधारने तथा विनय व अनुशासन को अपने जीवन मे विकसित बनाने के बारे मे निराश होने की आवश्यकता नही है । पाश्चात्य देशो की व्यर्थ की बातो की तो नकल की जाती है लेकिन महत्त्व की बातो को भुला दिया जाता है । मैंने सुना है कि कई देशो मे वृद्ध भी नई-नई बातो को सीखने मे रुचि लेते हैं । एक देश मे १५२ वर्ष का वृद्ध अपने पडपोते के साथ स्कूल मे पढने जाने लगा । ऐसी रुचि मनुष्य के मन को कभी भी वृद्ध और निराश नही होने देती है । वृद्धो और महिलाओ के मन मे ऐसी रुचि जाग जाय तो विनय एव अनुशासन की स्थिति मे जो कमी दिखाई दे रही है उसकी पूर्ति ही नही हो जायगी बल्कि यह स्थिति अत्यन्त विकसित बनकर जीवन को भव्य रूप दे देगी ।

विनय और अनुशासन का जीवन मे मूल्य

वस्तुत यह स्वय के अनुभव का ही विषय है कि जीवन मे विनय एव अनुशासन का कितना मूल्य है ? ज्यो-ज्यो आचरण इस दिशा मे बढता है त्यो-त्यो इनकी व्यापकता का अनुमान होता है और जब इनका प्रभाव पीढियो तक देखा जाता है, तब समझ मे आता है कि जीवन के मूल ये दोनो अग अमूल्य है ।

विनय और अनुशासन को अपनाने के बाद नैतिकता की वृत्ति एव प्रवृत्ति सुदृढ बनती है । जीवन निर्वाह की यथार्थ कला तभी पनपती है और उससे ही समाज और राष्ट्र मे काया-पलट किया जा सकता है । एक स्थान पर एक घटना देखने को मिली । एक वकील रेल मे मुसाफिरी कर रहे थे । टिकिट देखने वाले ने उनसे टिकिट मागा । टिकिट निकालने के साथ एक दस का नोट भी बाहर निकल आया और नीचे गिर गया । उनको इसका

ध्यान नहीं रहा। पास में बैठे हुए एक व्यक्ति ने धीरे से उस नोट को उठाकर अपनी जेब में रख लिया। इस काम को पास में बैठे एक बच्चे ने देख लिया। बच्चे ने उससे कहा कि यह नोट उसका नहीं है, वकील साहब का है सो वह उसे उनको दे दे। पहले तो वह व्यक्ति झगड़ा लेकिन बाद में शर्मिन्दगी के साथ उसको वह नोट लौटाना पड़ा। एक बच्चे के नैतिक संस्कारों ने इस तरह अपनी शक्ति का परिचय दिया।

आपके बच्चे भी नैतिक संस्कारों वाले बनें, अपने जीवन में विनय एवं अनुशासन को अपनावें, इसके लिये आप बुजुर्गों को चेतना होगा तथा अब भी अपने जीवन क्रम को बदलने का प्रयास करना होगा। क्या आप रोज आत्मालोचना करते हैं, सामायिक और प्रतिक्रमण का नियम निबाहते हैं और चौदह नियम चितारते हैं? यदि ऐसा करते हों तो आपको अपने जीवन पर एक दृष्टि डालने का अवसर मिल सकता है और उसके अनुसार आप अपने जीवन में विनय तथा अनुशासन की दिशा में आगे बढ़ने के लिये आवश्यक परिवर्तन ला सकते हैं।

पुष्ट आधारशिला तो जीवन का पुष्ट निर्माण

विनय और अनुशासन की आधारशिला यदि पुष्ट बन जाती है तो जीवन का पुष्ट निर्माण सरल हो जाता है। यह विनय से आने वाला अनुशासन व्यक्ति के ही जीवन को नहीं, अपितु सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन को भी परिष्कृत कर देता है। इस का मूल कारण यह है कि विनयी व्यक्ति शासन वालों के दुर्व्यवहार से विक्षुब्ध नहीं होता, बल्कि उसे सुशासन की दृष्टि से उसके सामने भी नम जाता है और उसके हित पर मनन करता है। आप जब नम्रता दिखाते हैं तो मनोभावों के विरुद्ध न बनने से सामना ना हित ही होता है लेकिन सामने वाला भी उस नम्रता से प्रभावित होकर अपने में अनुकूल परिवर्तन लाने की चेष्टा करता है। परिवर्तन की यही शृंखला आगे भी समाज और राष्ट्र का बदलती है।

आप भी अपने जीवन में विनय एवं अनुशासन का गहरे दृष्टि से स्वरूप समझकर ऐसा परिवर्तन लाइये जिससे आपके आत्मविकास की आधारशिला पुष्ट बन सके। उस आधारशिला पर फिर आपके जीवन का निर्माण स्वतः ही पुष्ट हो जायगा।



दु:ख का हेतु अपने ही भीतर

'विश्वसेन' नृप कुल तिलो रे, वामादे नो नन्द ।
चिन्तामणि चित्त मे बसे रे, दूर टले दुःख द्वन्द ।।
जीव रे तू पार्श्व जिनेश्वर वन्द.......

पार्श्वनाथ परमात्मा की वन्दना करने के लिये कवि ने भव्य जीवों को सकेत दिया है कि पार्श्वनाथ पारस के समान हैं । वे चिन्तामणि के तुल्य हैं कि जिसके चित्त मे बस जाते हैं तो उस चित्त के जितने भी दुख और द्वन्द्व होते हैं वे दूर भाग जाते हैं । परमात्मा को अपने अन्तःकरण मे बसाना अपार समाधियो को हृदय मे प्राप्त करना है । प्रभु के विराजने से सारे कष्ट-क्लेश स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं ।

अपने हृदय के आसन पर प्रभु को विराजमान कैसे करें ?

किन्तु प्रश्न यह है कि इन परमात्मा को अपने अन्तःकरण मे किस प्रकार बैठावें—अपने हृदय के आसन पर प्रभु को विराजमान कैसे करें ? पहले सोचिये कि प्रभु कहा हैं—किस स्थल पर हैं, जहा से उनको उठाकर हृदय के आसन पर बिठा सकें ? इस प्रकार का प्रश्न मनुष्य के मन मे खडा हो सकता है, लेकिन इस प्रश्न का समाधान तात्त्विक चिन्तन के माध्यम से ही प्राप्त हो सकेगा ।

पार्श्वनाथ अथवा अन्य तीर्थंकर देव, जिन्हें हम परमात्मा के नाम से

सम्बोधित करते है, वे तो सिद्धक्षेत्र में विराजमान हैं और वही पर प्रतिष्ठित है। न वे यहा आते हे और न कोई उन्हें यहा बुला सकता है और इस दृष्टि से न कोई उन्हे अपने अन्त करण मे बिठा सकता है। परमात्मा अपने ज्ञान मे ससार को देखते हैं, किन्तु ससार मे पुनः कभी भी नही आने वाले हैं। उनमे इतनी अनन्त शक्ति है कि वे सारे ब्रह्माड को गेंद की तरह फैंक दें, लेकिन वे निरन्तर अपनी वीतराग दशा मे रमण करते रहते है।

परमात्मा तो सिद्ध क्षेत्र के अविचल वासी है, लेकिन उनका पावन स्वरूप तो सम्पूर्ण ससार के सामने स्पष्ट है और खास तौर पर जो आत्म-स्वरूप के गहरे चिन्तन से परमात्म-स्वरूप का ध्यान लगाते है, वे अनुभव करते है कि सम्पूर्ण कर्ममुक्ति के बाद आत्मा जिस उज्ज्वलतम स्वरूप का वरण करती है, वही सच्चे अर्थों मे परमात्म-स्वरूप होता है। उस परम पावन स्वरूप को हृदय मे बसाना ही अन्योक्ति से प्रभु को अपने हृदयासन पर विराजमान करना है।

परमात्म-स्वरूप भी हृदय मे कब बसता है? ससारी आत्माओ के लिये यह स्थिति भी साधना से साध्य होती है। जब मनुष्य अपने वर्तमान जीवन पर दृष्टिपात करता है, उसकी आलोचना करना सीखता है तभी अपने आत्मस्वरूप पर चिन्तन करने की वृत्ति भी बनाता है। यह चिन्तन ही उसे भीतर देखने की दृष्टि देता है, जिस दृष्टि से वह अपने स्वरूप को भी देखता है तथा परमात्म-स्वरूप को भी देखता है। इस दृष्टि के विकास के साथ ही यह आन्तरिक अनुभूति होने लगती है कि प्रभु अपने हृदय के आसन पर विराजमान हो गये हैं।

परमात्मा का स्वरूप अपने ही भीतर मौजूद है!

इससे भी ऊपर सत्य यह है कि परमात्मा का स्वरूप कही बाहर से नही आता, वह तो अपने ही भीतर मौजूद रहा हुआ है। यदि ऐसा नही होता तो ज्ञानी जन प्रभु को अपने हृदय मे बसाने की बात नही कहते। चिन्तन के क्षणो मे जब आन्तरिक अनुभूति सुस्पष्ट बनती है तो ज्ञात होता है कि पर-मात्मा का स्वरूप हमारे अपने ही पास उपलब्ध है, उसे सिद्धक्षेत्र से अथवा किसी अन्य स्थान से उठाकर लाने की आवश्यकता नही है। बुलाने के लिये कष्ट करने की भी जरूरत नही है और न ही कवि का ऐसा सकेत है। कवि तो नय की दृष्टि से कथन कर रहे हैं। उनका कहना है कि जो परमात्म-स्वरूप आपके ही भीतर रहा हुआ है, उसे प्रकट करना ही प्रभु को अपने

अन्त करण मे बिठाना है।

सोचिये कि आप कौन हैं ? आपसे पूछा जाय कि यह हाथ किसका है तो आप बतायेंगे कि यह हाथ मेरा है। आपका हाथ आपके कितना नजदीक है ? आपका पैर भी कितना समीप है ? आपकी आंखें आपसे नजदीक हैं कि दूर ? आप कहेंगे कि नजदीक हैं। उसी तरह कान आपसे नजदीक है या दूर ? वे भी नजदीक है। यहा पर अन्य मनुष्य बैठे हैं, इनकी अपेक्षा आपके शरीर के अग आपके अधिक नजदीक हैं लेकिन आपको गहराई के साथ अनुभव होगा कि परमात्मा इन सबसे भी अधिक आपके नजदीक है। आपके लिये यह आश्चर्य की बात होगी कि आप इन अग-प्रत्यगो को देख रहे हैं,-इनको अपना समझ रहे हैं, किन्तु अत्यन्त समीप मे रहे हुए परमात्मा को पहिचान नही रहे हैं।

आपकी अपनी आत्मा का जो तत्त्व है, वस्तुत मूल में वही परमात्मा का तत्त्व है। वह तत्त्व सासारिक कामनाओ और वासनाओ के नीचे दब गया है, इस कारण अपने ही भीतर मौजूद स्वरूप दिखाई नही देता। बाहरी पदार्थों की उलझने इतनी टेढी बन गई हैं कि अपने ही भीतर झाकना भूल गये है तथा सोचते हैं कि परमात्मा कहा हैं तथा उसे अन्त करण मे कैसे बैठावें ? विपरीत स्थिति यह है कि भ्रमित-मति इन्सान दुखो के भारी दल दल मे फसा हुआ है।

अनन्त आनन्द को भूलकर अपार दुःखों को क्यों भोग रहे हैं ?

जैसे एक नादान व्यक्ति के पास अनमोल हीरा हो, लेकिन उसकी कीमत नही पहिचानने से वह उसको केवल काच का टुकडा समझता है, अज्ञानवश लाखो रुपयो की सम्पत्ति पास मे होने के बावजूद वह भूखो मरता है। कारण, हीरे को वह हीरे के रूप मे पहिचानता ही नही है। उसी तरह अपने ही परमात्म-स्वरूप को नही पहचानने के कारण यह आत्मा इस ससार के बाह्य पदार्थो के लिये भटकती है। यह इस आत्मा का भारी अज्ञान है। जिस परमात्म-स्वरूप को चीन्ह कर अनन्त आनन्द का रसास्वादन किया जा सकता है, उसे ही भूल कर वह अपार दुखो को भोग रही है। ऐसी ही अज्ञान दशा के कारण सारा विश्व नाना प्रकार के दुखो मे उलझा हुआ है।

कोई भी मनुष्य हकीकत मे एक पल के लिये भी दुख को नही चाहता है, फिर भी इस ससार मे वह प्रति पल दुखो को भोग रहा है। जानते है कि ऐसा क्यो होता है ? मनुष्य दुख चाहता तो नही है, लेकिन

वह काम दु:ख पैदा होने के करता है तो भला फल रूप मे दु:ख पैदा हुए बिना कैसे रहेगे ? और यह दु खो का फल मिलता ही रहेगा, जब तक अपने ही भीतर रहे हुए परमात्म–स्वरूप को न पहिचान ले और उसे प्राप्त करने की तीव्र आकाक्षा न बना ले ।

महावीर प्रभु ने सकेत दिया है कि इस आत्मा के लिये दु.ख अहितकर हैं । कार्य उतना अहितकर नही होता यदि कारण अहितकर नही है । दु ख स्वय अहितकर नही है, जितने कि दु:ख के कारण अहितकर होते है । यदि कारण को ही नही समझा जाय और उसको अपना कर चला जाय तो कार्य अवश्य ही वैसा बनेगा । ससार के ये सारे दु:ख उनके कारणो से सम्बन्धित है । भगवान् का भव्य जनो को इस दृष्टि से सम्बोधन यही है कि दु ख के कारणो को जाना जाय क्योकि वे ही उनके लिये अत्यन्त अहितकर है । कारण को न समझ पाने से ऐसा दु ख का कार्य बनता है, जिससे मनुष्य व्याकुल होकर अपनी चेतना को अधिकाधिक शिथिल बनाता जाता है ।

कारणो को न समझना तथा समझ कर भी उन्हे दूर नही करना-यही आत्मा का सबसे बडा अज्ञान है । इसी अज्ञान के कारण वह अनन्त आनद को भूल कर अपार दु खो को भोग रही है । दु ख के हेतु के विरुद्ध आत्मा का ज्ञान तथा साधना का चरण गतिशील बनना चाहिये ।

दुःख के हेतु को पहिचान कर उसे दूर करें तो दुःख नहीं होगा

दु खो के कारणो को कैसे पहिचानें ? वे कारण कहा है—दूर हैं या नजदीक हैं ? सामान्यतया यह सोचा जाता है कि अमुक अमुक व्यक्ति उसके दु खो के कारण है—यह पत्नी मुझे कष्ट देती है–यह पुत्र मुझे सुख नही देता अथवा वह पडौसी मुझे दु खी बनाता है । समीप मे रहने वालो को उनके विभिन्न व्यवहार के कारण कोई अपने दु खो का कारण मान लेता है । यदि पडोसी का स्वभाव दु ख देने का है तो देखिये कि क्या वह सभी को दु ख देता है ? जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना होता है तो जो भी उसका स्पर्श करेगा, उसको वह जलायगी । यदि पडोसी का स्वभाव सबको दु ख देने का नही है तो आपको अपने ही लिये सोचना पड़ेगा । परिवार के सदस्य भी प्राय दु ख नही, शान्ति देने की चेष्टा करते है । फिर भी आपको उनसे दु ख का अनुभव होता है तो आपको अपने ही ऊपर चिन्तन करना होगा । इसका अर्थ यह निकलेगा कि आपके ही भीतर दु खो के कारण विद्यमान है, जिन्हे आप समझते नही है और वे कारण ही एक या दूसरे का निमित्त पकड कर आप को बराबर दु खी बनाते रहते हैं ।

दु खो के वे कारण आपके ही भीतर घुसे हुए हैं, जिनसे आपके मन की विचित्र दशा बनी हुई है। मन की दशा विचित्र इसलिये कि दु ख पाते हुए भी उसके कारणो का ज्ञान नही होता तथा उस अज्ञान अवस्था मे अधि-काधिक दु खो की सृष्टि होती रहती है। इस अवस्था मे परमात्मा की समीपता भी दूर होती जाती है। पडोसी की नजदीकी से अलग हट रहे हो परिवार के सदस्यो से दुश्मनी बाध रहे हो और परमात्मा की समीपता को भी खो रहे हो ऐसा अज्ञान क्या आप को पतन के गहरे गर्त्त मे नही गिरा देगा ?

वास्तविक कारणो को न समझ कर उन कारणो का आरोप दूसरो मे किया जाता है तो अकारण मन मे उनके प्रति वैर-विरोध एव राग-द्वेप की दुर्भावना पैदा होती है और उससे विकारी भाव इतने कलुषित वन जाते हैं कि वे अशुभ भाव नये नये भावी दु खो के कारण वन जाते हैं। ऐसे अहितकर कारणो के अधीन वन कर मनुष्य एक जीवन मे ही नही—जन्म जन्मान्तर के लिये दु खो की लडी बाध लेता है। उन्ही कारणो की गति निरन्तर चलती रहती है तथा फलस्वरूप दु खो का क्रम भी बराबर चलता रहता है।

इसीलिये प्रभु का सकेत है कि दु खो के हेतु को पहिचानो, समझो तथा समझकर उन हेतुओ को हटाने की चेष्टा करो, जिससे दु खो का क्रम वन्द हो जाय। दु ख भोगो और उसके कारणो की जानकारी नही लो तो उन दु खो को दूर करने का प्रयास सफल ही कैसे वन सकता है ?

दुःखो का हेतु तथा परमात्मा का आसन भी भीतर ही है

भव्य जन पार्श्वनाथ प्रभु को चिन्तामणि समझते है तथा सोचते है कि वह चिन्तामणि अपने हृदय मे वैठ जाय तो फिर दु ख का एक भी हेतु शेप नही वचेगा। यह विचार उठ सकता है कि चिन्तामणि प्रभु को कहा प्रकट करे ? उन्हे अपने अन्त करण मे ही प्रकट करना है क्योकि यह अन्त करण या अन्तरात्मा ही वह स्थान है, जहा दु खो का हेतु रहा हुआ है जिसे अज्ञान के कारण पहिचानना कठिन हो रहा है तो यही वह स्थान है जहा परमात्मा का भी आसन लगा हुआ है। ज्यो ही दु खो के सही हेतु को पहिचान लेते हैं और उसे दूर कर देते है तो दु ख मिटने लगते हैं। दु खो के दूर होने पर आनन्द की धारा प्रवाहित होती है, तव हृदय के आसन पर विराजमान परमात्मा प्रकट हो जाते हैं अर्थात् यही आत्मा पवित्रता के साचे मे ढलती हुई परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करने की दिशा मे अग्रसर वन जाती है।

इस उद्देश्य से मन मे नया परिवर्तन लाना होगा । उसमे जिन मलिन भाव का प्रादुर्भाव होता है, उनके शमन का यत्न किया जाना चाहिये । मन पर ऐसा निग्रह किया जाय कि विकृत भावो मे कमी आवे । जो परमात्मा को भीतर बिठाने की कोशिस करते है, वे भीतर अलीते–पलीते को दूर करके दु ख के कारणो को हटाते है, स्वय शमन करते है तथा दूसरो को जलाने वाली आग को भी शान्त करते है । दु ख के कारण जब हट जाते है तो वहा स्वत ही सुख के कारण पैदा हो जाते है, जिनका परिणाम सुख रूप मे प्रकट होने लगता है । जिस मनुष्य के मन मे परमात्मा के पवित्र स्वरूप का ज्ञान अत्यधिक निकटता से हो जाता है, फिर वह पापो के जाल मे नही उलझता है और निमित्त पाकर पहले के जाल का भी समाधान कर लेता है । भूल का हो जाना स्वाभाविक है लेकिन वह शुद्ध मन से भूल को भूल मानकर उसका वही परिमार्जन कर लेता है, लेकिन भूल को पकड कर घसीटता नही है । भूल को भूल न मानकर मनुष्य उसका दोपारोपण अन्यत्र करता है, तब वह अपने मन मे उत्तेजना लाकर प्रतिशोध के भाव पैदा करता है और दु खो के कारणो को सजीव बनाता है । परमात्म स्वरूप को समझ लेने वाली प्रबुद्ध आत्मा ऐसे कारणो को पैदा ही नही होने देती है ।

भीतर मे या तो दु ख के कारण रहेगे अथवा परमात्मा का निवास हो सकेगा जिससे आनन्द की धारा बहेगी । दोनो एक साथ नही रह सकते । अत परमात्मा को भीतर मे प्रकट करना है तो दु खो के कारणो को भीतर से बाहर निकाल दें और दु खो को अपने लिये जड मूल से मिटा दे ।

सन्त–समागम एवं व्रत धारण से उद्देश्य की प्राप्ति

कभी कभी भव्य जन अपने दु ख का निवारण करने के लिये सहज रूप से लग जाते है, परन्तु जानते है कि भव्य जन कौन होते है ? इसमे नगर और ग्राम निवासी होने का भेद नही है, बल्कि भव्य जन वे है, जिन्हे अपनी आत्मा को सुधारने वाला उत्तम वायुमडल मिलता है, सन्तो का समागम होता है तथा उनकी उपदेश धारा को श्रवण करने के अवसर आते है । क्या ऐसे वातावरण का मिलना पुण्य का फल नही है ? सुन्दर निमित्त मिले तो उसे आत्मविकास का अवसर मिलना ही कहेगे और जो इन सुन्दर निमित्तो का उपयोग करे, उन्हे भव्य जन मानते है । भव्य जन इन निमित्तो का सदुपयोग करते हुए व्रत धारण की दिशा मे आगे बढते है तथा आत्मविकास साधते है । सन्त समागम से वे अपनी विचार–शुद्धि करते है तो व्रतधारण से कर्म–

शुद्धि करते हुए वे दुखों के कारणो को समाप्त करने मे जुट जाते है। परिणाम स्वरूप उनका यह जीवन सुखी बनता है तथा इस जीवन मे सुख के कारणो को पैदा कर लेने से उनके अगले जन्म भी सुखी बन जाते है।

आपके सामने एक रूपक रखू कि पाचू गाव रेत के टीलो के बीच मे बहुत एकान्त मे आया हुआ है। मैं जब वहा गया और रहा तो वहा के भाई बहिन बडी सख्या मे उपदेश श्रवण को आते थे—यह देशनोक के लोगो ने भी देखा होगा। वहा के भाई बहिनो को आपकी तरह उपदेश श्रवण का लम्बा अवसर नही मिला, लेकिन जितना सा भी अवसर मिला, उन्होने उस उपदेश का सार निकाला और दुख के कारणो को हटाने मे विलम्ब नही लगाया। वहा के कितने ही परिवारो के बीच मे १५ वर्षों से मनमुटाव चल रहा था और आपसी व्यवहार बन्द था। उसके विषय मे मैंने सकेत किया और उनको राग द्वेष की परिणति मे दुखो के कारणो की बात बताई तो उन्होने उसे तुरन्त ग्रहण करली तथा वर्षों के मनोमालिन्य को मिटा दिया। ऐसी मनोवृत्ति के धारण करने वालो को भव्य जन कहते है।

भव्य जन हृदय से उपदेश का श्रवण करते है और ज्ञान का प्रकाश अपने भीतर ग्रहण कर लेते हैं। फिर उनके हृदय मे सहज रूप से कोमल भावनाओ का प्रवाह वह निकलता है कि वे झट दुखो के कारणो को अपने हृदय से बाहर निकाल कर दूर फेंक देते है। फिर व्रत ग्रहण की दिशा मे भी उनकी वृत्ति मुड जाती है और कई तरह के त्याग भी वे कर लेते है। सन्त-समागम का भले ही उन्हे लम्बा अवसर न मिला हो- परन्तु वे छोटे अवसर से भी इतने प्रभावित हो जाते है कि श्रद्धा की प्रगाढता से उद्देश्य-प्राप्ति की तरफ गतिशील बन जाते है।

त्याग से अन्तःकरण को तपाइये, सोना कुन्दन बनने लगेगा

लोग कहते है—महाराज, त्याग कैसे करें ? वे त्याग से डरते है। आप जिस त्याग से डरते है वह त्याग बडा अमूल्य होता है। जिन्होने त्याग के मूल्य को समझा है और उसे भावपूर्वक ग्रहण किया है, उन्होने अपने अन्तःकरण को त्याग की अग्नि से तपाकर उसकी सारी मलिनता को मिटा दिया। दुख के कारणो की गहरी विकृति त्याग की आग मे ही जलकर नष्ट होती है तथा आत्मा का सोना अपनी शुद्धता मे उत्कृष्टता से निखर कर कुन्दन बन जाता है।

दुख के जो कारण भीतर अन्तःकरण मे व्याप्त हो रहे है वे आज

भी आत्मा को विकृत तथा मलिन बना रहे है। उसके कारण आगे के लिए भी दुखो के कारणों का मन पर असर बना रहा तो पूर्वजन्म के उपार्जित कर्मों का उदय आयेगा अथवा नही, लेकिन अभी जो कर्मबन्धन होंगे, उनका दुःख-विपाक इस जीवन मे भी आ सकता है तो अगले जन्म मे भी आ सकता है। मेरे भाई कभी कभी रोने और रुलाने मे भी अच्छाई मानते है, लेकिन आप के सामने ही पाचू गाव की पटेलन ने त्याग कर लिया है कि वह किसी मृतक के यहा बैठने जायगी तो न स्वय रोयेगी और जहा रोना चलता होगा, वहा वह नही जायगी। क्या सभी बहनें ऐसा त्याग नही कर सकती हैं? मृतक के पीछे जोर २ से रोने का रिवाज ऐसा है जो हृदय मे रहे हुए दुख के कारणो को ज्यादा उत्तेजना देता है, अत इस का त्याग करें तो वह आत्मा के लिये हितावह है।

इस तथ्य को ध्यान मे रखिए कि दुख के कारणो का सूत्रपात अशान्ति और वेदना से होता है तथा यह अशान्ति और वेदना सकारण अथवा अकारण मन की उपज होती है। यदि यह अशान्ति और वेदना सकारण है तो उसे अपना कर्मफल मानकर शान्तिपूर्वक सहन करले तथा उससे अपने अनुभवो को मलिन नही होने दें। यदि वह अशान्ति और वेदना अकारण है तो अपने मन को धिक्कारें, उसे विचारो की गलत दिशा मे से हटा कर सही दिशा मे चलावे ताकि वह गलत अनुभूति मिट जावे।

ऐसी अशान्ति और वेदना का परिणाम इस आत्मा के लिये भयावह होता है क्योंकि उससे होने वाली राग द्वेष की परिणति आत्मा को अधिक मलिन बना देती है। अतः त्याग के मार्ग को अपनाइये, जिससे आत्मा की मलिनता को नष्ट करके उसके स्वरूप को निखार सकें तथा परमात्म-स्वरूप को अत्यधिक निकटता से अपने भीतर प्रकट कर सके।

भीतर के धरातल को सुधारें, दुःख के हेतु मिट जायेंगे

अपनी ही आत्मा के भीतर के धरातल पर जितने काटे हो, कूडा कचरा हो, उसे पहले साफ करने मे जुट जावे। सामने वाले से कैसा भी व्यवहार मिले, लेकिन वह अपनी विपाक्तता से भी आपके भीतर मलिनता पैदा न कर सके—यदि इस रूप मे भीतर का धरातल सुधर जाय तो समझिये कि दुख के हेतु अपने आप ही नष्ट हो जायेंगे।

यदि चिन्तामणि भगवान् को बुलाना और हृदय मे बिठाना चाहते हैं तो भीतर के धरातल को सुधार कर कोमल भावो के सिहासन पर उन्हे बिठाइये। चिन्तामणि पार्श्वनाथ कही दूर नही हैं, आपके भीतर ही है। उन्हे प्रकट कर लीजिये। फिर आपके सारे दुख-हेतु समाप्त हो जायेंगे तथा मनोकामनाएं पूर्ण हो जायेंगी।

आचरण की प्रधानता

श्री महावीर नमो वरनाणी
शासन जेहनो जाण रे प्राणी.......
जे करिये भवसागर तरिये,
आतम भाव अराध रे प्राणी
सूत्र विनय आचार तपस्या,
चार प्रकार समाध रे प्राणी ।

प्रार्थना मे प्रभु महावीर को समाधि भाव की दृष्टि से वन्दन किया गया है । आत्मा के इस परम स्वरूप मे आत्मा का स्वय स्थिर हो जाना ही समाधि का चरम रूप माना गया है । आत्मा जब अपने मूल स्वरूप से बाहर निकल कर इधर-उधर भटकती है, तब वह अशान्ति के वायुमडल मे गोते लगाती है, लेकिन जितना और जिस रूप मे आत्मा अपने आपको सन्तुलित बनाकर अपने ही स्वरूप मे स्थित एव स्थिर होने का प्रयास करती है, तब उतने ही अशो मे उसे शान्ति का अनुभव होता है और वह समाधि मे पहुचती है ।

समाधि-लाभ के लिये आत्मा क्या क्या प्रयत्न करे ?

वर्तमान दशा पर विचार करें तो साफ-साफ जानकारी होगी कि आत्मा का परिणाम, भाव और विचार अपने मूल क्षेत्र को छोड करके दिन

प्रतिदिन बाह्य पदार्थों की तरफ भागता रहता है। वह उन संसारी जड पदार्थों को पकडने की कोशिश करता रहता है तथा उस कोशिश मे आगे से आगे उलझता रहता है। उन विचारों को उस दशा मे न स्थिरता मिलती है और न शान्ति। क्योंकि वे जड पदार्थ स्वय स्थिर नही है, उनको पकडने वाला भला फिर कैसे स्थिर रह सकता है? जो तत्त्व स्थिर है, शाश्वत हैं तथा शान्ति देने वाले है, यदि उनका अवलम्बन ग्रहण किया जाय, तभी उन्हे ग्रहण करने वाला स्थिर रह सकता है तथा शान्ति प्राप्त कर सकता है।

इस विराट् विश्व मे विज्ञानवान स्थिर तत्त्व यदि कोई है तो वह आत्म तत्त्व ही है, जो अपने परम उज्ज्वल रूप मे परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करके सदा-सदा के लिये स्थिर, शान्त तथा पूर्ण रूप से समाधिस्थ हो जाता है। आत्मस्वरूप एवं परमात्मस्वरूप इन दोनों का सम्यक् रीति से अवलम्बन लेने पर ही आत्मा को सुखानुभूति हो सकती है। परमात्मस्वरूप को आदर्श रूप मे सामने रखा जावे और आत्मा को उस आदर्श का सुबोध देते हुए समाधि लाभ के प्रयत्नो मे जुटा दिया जाय तो पूर्ण समाधि-लाभ की मजिल दूर नहीं रह जायगी। आचरण के इस मार्ग पर प्रतिक्षण यह चेतना जगी हुई रहनी चाहिये कि तू अभी परमात्मा के तुल्य अपनी शक्ति को सम्पादित करले।

बहुत वर्षों से ही नही, सर्पिणी एव उत्सर्पिणी के अनन्त कालचक्रो के इतने दीर्घ समय से आत्मा इन संसारी पदार्थों की ममता मे पडकर अपनी समाधि खो रही है। किसी विचार श्रेणी मे कुछ क्षणो के लिये समाधि मिलती भी है तो उसमे स्थिरता नही बन पाती है। बुद्धिमान व्यक्ति कमाई करने की चेष्टा करता है तो यह बराबर ध्यान रखता है कि मूल पूंजी स्थिर रहे वैसे ही चतुर आत्मा वही होगी जो इधर-उधर के कुछ भटकाव के बाद भी अपने मूल स्वरूप को सुरक्षित रखे। सासारिक पदार्थो को अस्थायी रूप से ग्रहण भी करे लेकिन अपनी आन्तरिक शक्ति को विसर्जित नही होने दे।

यही भावना प्रारभिक रूप से प्रभु महावीर ने चार प्रकार की समाधियो के अन्तर्गत व्यक्त की है। समाधि होती है आत्मा की आन्तरिक शान्ति और उसकी प्राप्ति के ये चार उपाय हैं जिनका कवि ने प्रार्थना मे सकेत दिया है। ये चारो उपाय ही समाधि-लाभ के मुख्य प्रयत्न हैं। पहले उपाय सूत्र के विषय मे कुछ कहा गया है कि ज्ञान के प्रकाश मे आत्मा की दृष्टि सजग बने फिर समाधि के दूसरे उपाय विनय से उस दृष्टि मे मृदुलता आवे। तब तीसरा उपाय बताया गया है आचार का। ज्ञान एव मृदुता से परिपूर्ण दृष्टि तब आचरण के कठोर धरातल पर क्रियाशील बन जाय।

क्रियाशील जीवन का प्रथम धर्म होता है आचार

शुभ लक्ष्य की दिशा मे क्रियाशील बनने वाले किसी भी जीवन का प्रथम धर्म होता है आचार। सही बात जानकर और मानकर भी जो उसे आचरण मे नही उतारे तो वह जानना और मानना भी सार्थक नही बन सकता है। इसी कारण आचरण को प्रधानता दी गई है तथा उसे जीवन का प्रथम धर्म कहा गया है।

आचार एव व्यवहार जितना सुन्दर एवं भव्य होता है, वह आत्मा उतनी ही अधिक शान्ति का अपने जीवन मे अनुभव करती है। गलत आचरण तथा गलत व्यवहार से अशान्ति एव असन्तोष की आग ही भडकती है। बुरा व्यवहार कोई चाहे किसी भी स्थान पर करे और ऐसे स्थान पर करे जहां कोई देखने वाला नही हो तब भी वह पाप कार्य ही होता है और उस पाप को भी एक तत्त्व तो देखता ही है। परमात्मा तो सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है, जिनसे कोई सत्य या कोई तथ्य छिपा हुआ नही रहता। उनकी ज्ञान दृष्टि मे सब कुछ प्रकट हो जाता है। वे देखते हैं पर तटस्थ भाव से रहते हैं। यह तो आचरण करने वाली आत्मा का कर्त्तव्य है कि वह परमात्मा की ज्ञान दृष्टि को सदा ध्यान मे रखकर अपने आपको गलत आचरण से बचावे और यथासाध्य श्रेष्ठ आचरण मे लगावे।

आचरण के आदर्श के रूप में अपने सामने सदा परमात्म स्वरूप को रखना चाहिये कि जो अविचल समाधि मे स्थित है। उस समाधि के लिये उन्होंने अपने जीवन मे किस कठोर आचार का पालन किया एव अपने निज के अनुभव के आधार पर उन्होने किस आचार का ससार को मार्ग बताया, आचार के उस स्वरूप को अपने जीवन मे उतारना चाहिये। क्योंकि उसी आचार का पालन करके उन्होने परमात्म स्वरूप की एव उसकी परम समाधि की उपलब्धि की है। इस समय प्रभु महावीर का शासन है तथा उन्होंने ऐसे आचार की देशना आचाराग सूत्र मे विस्तार मे व्यक्त की है। वह देशना यथासाध्य रीति से जब आत्मा के आचरण मे उतरे तो उसकी वह क्रियाशीलता उसको पूर्ण समाधि की दिशा मे ही अग्रसर बनायगी।

परमात्मा पर विश्वास करना अपनी कर्मठता पर विश्वास करना है

परमात्मा पर जो विश्वास करना है वह इस दृष्टि से नहीं कि परमात्मा आकर कुछ देंगे या कुछ करेंगे। उनकी ज्ञान दृष्टि मे उन्हें सब

दीखता है लेकिन उनकी चिर शान्ति में कहीं कोई व्यवधान नहीं है। इसलिये परमात्मा पर जो विश्वास करना है, वह अपनी स्वयं की कर्मठता पर विश्वास करना है कि अपनी आत्मा भी आचरण के स्वस्थ धरातल से ऊपर और ऊपर उठती हुई उसी परमात्म स्वरूप को धारण करने मे समर्थ है।

जिन्होंने आत्मिक स्वरूप को नही पहिचाना है—अपने ही अन्त.करण का दर्शन नही किया है, वे ही सही माने में परमात्मा पर विश्वास नही कर पाते हैं। परमात्मा का विश्वास अपनी ही आत्मा के विश्वास को जगाता है। एक जागृत आत्मा अपने प्रत्येक विचार एवं आचार की परख कर सकती है तथा अन्दर से आवाज दे सकती है कि वह विचार एव आचार सही है या गलत। कल्पना करे कि एक व्यक्ति घटाटोप अधकार वाली एक गुफा मे बैठकर कोई पाप कार्य करता है। वह जगह ऐसी है, जहा उस पाप कार्य को दूसरा तो क्या, उसकी खुद की चमडे की आखें भी देख नही पाती हैं। लेकिन जिसकी भीतर की आखे थोडी बहुत भी खुली हो, क्या उसको महसूस नहीं होगा कि वह पाप कार्य उस के लिये दु ख का कारण बनेगा ? जागृत आत्मा के भीतर से तुरन्त आवाज निकलेगी कि यह पाप कार्य है और उसे परमात्मा की ज्ञान दृष्टि देख रही है। जो परमात्मा की ज्ञान दृष्टि को समझ लेता है, उसकी आत्मा की ज्ञान दृष्टि भी जाग उठती है।

परमात्मा के प्रति जिसका विश्वास नही होता, उसका आत्मविश्वास भी खोया हुआ रहता है। उसे पाप कार्य करते हुए अपने ही अन्त करण की आवाज सुनाई नही देती तथा सदा उसकी चेष्टा अपने पाप को छिपाने की बनी रहती है। इसका बुरा असर यह होता है कि उसका अन्तर्मन एक प्रकार की तीक्ष्ण ग्लानि तथा अशान्ति से पीडित रहता है। वह ऐसे भव्य स्थान पर भी क्यो न पहुच जाय, जहा परमात्मा की अमृत वाणी का विवेचन चल रहा हो, वह वहा भी शान्ति का अनुभव नही करता है, क्योकि उसकी आत्मा भीतर ही भीतर उसकी शान्ति को नोचती रहती है। जैसे शरीर के अन्दर पैदा होने वाला जहरीला कीडा उसे भीतर ही भीतर नोचता रहता है और वह शरीर-धारी उस वेदना को बता नही सकता है, वैसे ही जिसने परमात्मा के प्रति अविश्वास करके अपने आचार मे जहरीला कीडा लगा लिया है, उसके उस आचार से न तो उसको शान्ति मिल सकती है, न ही उसकी कर्मठता जागृत बनी रह सकती है।

'पाप छिपाया ना छिपे और छिपे तो खोटा भाग"

शायद आप लोगों के बीच मे प्रचलित कहावत यह है कि "पाप

छिपाया ना छिपे और छिपे तो मोटा भाग," लेकिन यह गलत है तथा इसे सही मानिये कि 'छिपे तो खोटा (मोटा नही) भाग ।' इसका कारण है, जिसकी पाप कार्य को गुप्त बनाये रखने की चेष्टा कामयाब हो जाय तो उसकी आन्तरिक अशान्ति उसे भीतर ही भीतर नोचती रहती है । बुरे आचरण की ग्लानि ऐसी तीक्ष्ण होती है कि पाप के छिप जाने के बाद वह भीतर के चैन को खा जाती है और मनुष्य अपनी शान्ति को खो देता है । वह न तो अपने पाप को प्रकट कर पाता है और न उसे पल भर को भी चैन मिलता है । पाप के खुल जाने से जो भी परिणाम हो, भीतर मे ग्लानि पैदा नही होती । पाप को स्वय प्रकट कर देना तो आत्मशुद्धि की निशानी बन जाती है, लेकिन पाप को छिपाना और पाप का छिप जाना आत्मिक अशान्ति का कारण बन जाता है । इस कारण यदि पाप छिप जाय तो उसे 'मोटा' नही 'खोटा भाग्य' कहिये, जो चित्त की शान्ति को समाप्त कर देता है ।

हम आचार समाधि की दृष्टि से सोचे कि हमारा आचार व व्यवहार कैसा होना चाहिये तो उसका एक यह मानदड बनाया जा सकता है कि वह ऐसा होना चाहिये जिससे हमारी आत्मा अन्दर से शान्ति को नोचे नही । भीतरी ग्लानि पैदा करने वाला आचरण घोर अशान्ति भी पैदा कर देता है । यदि कदाचित् अच्छा परिपूर्ण शुद्ध आचार नही बन पाता है, तब भी जितना बन सके, उतनी ईमानदारी से आचार का निष्ठापूर्ण पालन करना चाहिये । इसके साथ ही जितना नहीं बन पा रहा है, उसके लिये खेद प्रकाशन करना चाहिये कि अभी इतनी कमी है तथा उस कमी को पूरी करते रहने के लिये सचेष्ट होना चाहिये । शुद्ध आचार की कमी को खुले रूप मे प्रकट करना चाहिये कि मैं यह गलती कर रहा हू—पाप कर रहा हू, उसका जिस दिन परित्याग कर पाऊगा, तब मुझे शान्ति मिलेगी । व्यक्ति इतना ख्याल करले तो उसके जीवन मे शान्ति का द्वार अवश्य खुल सकता है ।

एक व्यक्ति तो ऐसा होता है जो पाप करता है लेकिन उसको छिपाता नही है और दूसरा व्यक्ति ऐसा है जो पाप करता जाता है एव उसको छिपाने की भी कोशिश करता है तो दूसरा व्यक्ति हकीकत मे अधिक अशान्त बनता है ।

पाप से निवृत्ति तीन करण तीन योग से लें

बडे तौर पर लीजिये कि पाप व्यक्ति स्वय करता है, तब तो उसे लगता ही है कि वह पाप कर रहा है । लेकिन जब वह अमुक पाप कार्य

दूसरों से करवाता है तो वह समझता है कि जो पाप कार्य स्वयं कर रहे है, वे ही पाप कर्म का बध करेंगे। किन्तु जो पाप कार्य दूसरो से करवाता है, वह भी पाप कर्म का भागी वनता है। एक व्यक्ति पाप कार्य स्वय भी नही कर रहा है तथा दूसरो से भी नही करवा रहा है, लेकिन तीसरा व्यक्ति जो पाप कार्य कर रहा है, उस कार्य का वह किसी भी रूप मे अनुमोदन कर रहा है, तब भी वह उस पाप कार्य का भागी बनता है। अनुमोदन करने वाला भी उस पाप कार्य मे शरीक माना जायगा।

उदाहरण के लिये जैसे गृहस्थी मे बहने रसोई बनाती है उसमे छोटे-मोटे जीव भी मर सकते है तथा एकेन्द्रिय जीवो का घमासान तो होता ही है। सोचिये कि उस रसोई का पाप किसको लगेगा ? आप यह सोच लेते होगे कि उसका सारा पाप बहिनो को ही लगता है, जो स्वय रसोई बनाती है। हम तो सिर्फ जीमते है और जीमने वाले को कोई पाप नही लगता। लेकिन याद रखिये कि वह पाप सिर्फ बहिनो को ही लगने वाला नही है। उस पाप के भागी आप भी है। उस आरभ-समारभ को भले ही आपने अपने हाथो से नही किया, लेकिन वह आप करवाते है तथा यथा समय रसोई बनाकर आपको जिमाना अच्छा समझते है। इस कारण उस रसोई के पाप मे आप भी भागी-दार होते है। इसको विपरीत स्थिति से भी सोच लीजिये कि किसी रोज बहिन ने रसोई नही बनाई और आपको समय पर खाना नही मिला तो आपके मन मे क्या भावना आती है ? आप तिलमिला उठते है, भोजन न करने पर भी उससे आपका त्याग नही बनता है।

इसलिये सिद्धान्त की बात यह है कि पाप कार्य से निवृत्ति तीन करण तथा तीन योगपूर्वक होनी चाहिये। तीन करण है—स्वय नहीं करना, दूसरो से नही करवाना तथा किसी करने वाले का अनुमोदन भी नही करना और इस रूप मे पाप निवृत्ति तीन करण के साथ मे होवे। पाप करना, कराना और करते को अच्छा समझना—ये तीनो प्रवृत्तिया छूटनी चाहिये और यह निवृत्ति भी तीन योग से होनी चाहिये मन, वचन एव काया तीनो से। पाप का चिन्तन, उच्चारण और क्रियान्वयन—तीनो छूटने चाहिये। तीन करण एव तीन योग के साथ की जाने वाली पाप निवृत्ति से अशान्ति नष्ट होती है तथा होती है आचार समाधि की उपलब्धि।

गृहस्थ धर्म एवं साधु धर्म मे पाप निवृत्ति का अन्तर

गृहस्थ धर्म मे पाप से निवृत्ति पूर्णतया तीन करण तीन योग से

नही बन पाती है। बहनो द्वारा रसोई बनाने के पाप मे आप भागीदार होते हैं तो आप द्वारा अनीतिपूर्वक की जाने वाली कमाई के पाप की वे भी भागीदार बनती हैं। गृहस्थाश्रम एक प्रकार की सस्था है जिसमे दोनो हिस्सा डालकर चलते हैं। जिस बडे परिवार के पचास सदस्य हैं तो वे सभी अपनी-अपनी जिम्मेदारी के कार्य सभालते हैं और उस रूप मे हिस्सेदार बनते हैं। लेकिन जो सदस्य परिवार मे रहकर भी जिस रूप मे दूसरो के लिये दिल से त्याग करता है, उसको उसका अच्छा फल मिलता है। फिर भी परिवार के पाप कार्यो के भाग से वह बच नही सकता।

पाप कार्यों से पूर तौर पर बचाव तो साधु धर्म मे सभव बनता है, क्योकि साधु तीन करण एव तीन योग से पूर्णतया पाप का परित्याग करता है। साधु स्वय पाप करे नही, किसी से करावे नही और किसी को करते हुए भला समझे नही। इस प्रकार की मन स्थिति से यदि साधु चलता है तो वह पाप से बच सकता है। लेकिन यदि एक साधु धर्मस्थान मे बैठा हुआ है और वहा पर किसी ने दीपक या बल्ब जला दिया कि अधेरे मे ठोकर नही लगेगी, दिन को पखा चला दिया कि गर्मी नही महसूस होगी अथवा माईक फिट करा दिया कि दूसरो को सुनाने मे सुविधा रहेगी। उस साधु ने यह सब करने को कहा तो नही, लेकिन अगर वह इन सुविधाओ का उपभोग करता है या इन सुविधाओ को ठीक समझता है, तब भी क्या वह उस पाप कार्य का भागी नही बनेगा ? जब सुविधा भोगते हैं या माईक पर बोलते है तो उस हिंसा या पाप के वे भी भागी बनेंगे, कहने मात्र से कि वे उसमे शरीक नही हैं, वे पाप से नही छूटेंगे।

कल्पना करिये कि महाराज का व्याख्यान चल रहा है, सुन्दर विषय है और जनसमुदाय मत्रमुग्ध होकर सुन रहा है, उस समय बैटरी या बिजली चली जाय और माईक बन्द हो जाने से व्याख्यान श्रवण बन्द हो जाय तो तब सबकी भावना यही होगी कि जल्दी से जल्दी पॉवर आ जावे और माईक चालू हो जावे। पॉवर आने से सबको खुशी हुई तो यह हिंसा कार्य की अनुमोदना ही होगी। साधु आचार यह है कि वह अपने ठहरने के स्थान पर सावधानी बरते और किसी प्रकार के पाप कार्य के होते रहने को सहन न करे।

साधु-आचार की शुद्धता एव उत्कृष्टता

साधु आचार की शुद्धता एव उत्कृष्टता एक प्रकार से उल्लेखनीय है

कि उसमे पूर्ण पाप निवृत्ति की स्थिति बननी चाहिये । शास्त्रकारो ने स्पष्ट कर दिया है कि साधु जिस मकान मे ठहरने की आज्ञा ले उसे पहले ही ठीक तरह से देख ले—उसमे बल्ब या पखे या अन्य रूप मे बिजली का उपयोग तो नहीं हो रहा है अथवा किसी भी प्रकार का आरभ–समारभ तो नही हो रहा है ? निरवद्य देखकर ही वह मकान मे ठहरे और बाद मे मकान मालिक या अन्य व्यक्ति किसी प्रकार का आरभ–समारभ का कार्य वहा करने लगे तो साधु कह दे कि हम ऐसे मकान मे नही ठहर सकेगे, दूसरा मकान दिखादो । दूसरा मकान नही मिले तो वह वहा से चल दे किन्तु किसी भी रूप मे वह सहमति या अनुमोदन के पाप का भागी नही बने ।

साधु को अपने आचार की स्थिति से स्थिर रहना चाहिये। श्रावको को भी साधु को पापकारी कार्यों की तरफ नही ले जाना चाहिये । श्रावको को अपने स्तर पर पाप कार्यों से निवृत्ति लेनी चाहिये तो साधुओ को तीन करण तीन योग के साथ पाप निवृत्ति करने देनी चाहिये । साधु पूर्ण अहिंसक होता है, अतः उसे अव्यक्त रूप से ही सही हिसा का अनुमोदन नही करना चाहिये । आचार की दृष्टि से शास्त्रो के विरुद्ध चले और हिंसाकारी उपक्रमो को इरादतन काम मे लेते रहे तो महाव्रत टूटने का दोष लगेगा । साधु को ऐसे हिंसाकारी प्रसगो से दूर रहकर आचार की शुद्धता एव उत्कृष्टता को प्रकाशित करनी चाहिये ।

शायद आप सोचे कि आज के वैज्ञानिक युग मे ऐसी स्थिति कहा जीवन मे बन सकती है ? लेकिन बनती है तभी तो गति आती है । साधु जीवन की स्थिति को आप यहा ही देख सकते है । यहा पर सन्त ठहरे हुए है, श्रोता भी काफी आते है तब क्या देशनोक मे माईक नही मिलता है ? फिर यहा क्यो नहीं लगते ? आप जानते हैं कि महाराज माईक को काम मे नही लेते, उसका अनुमोदन नही करते तथा फिर भी कही लगा दिया तो वे उठकर चले जावेगे, इसलिये आप सावचेत रहते है । रात मे भी आप लोग अधेरे मे आकर बैठते हैं । आप अपनी स्थिति से रहते हैं तथा सन्त जीवन की स्थिति उनकी मर्यादा के अनुसार चल रही है । आप भी इसमे उनको यथासभव सहयोग देते है । आचार की रक्षा इसी तरह निष्ठापूर्वक ही हो सकती है ।

आचार प्रधान जीवन की गति समुन्नति की ओर

ज्ञान प्रकाश है तो आचार गति का नाम है । प्रकाश हो फिर भी

गति न हो तो प्रगति व लक्ष्य प्राप्ति शक्य नहीं हो सकती है। इसी हेतु से आचार की प्रधानता मानी गई है कि गति के विना लक्ष्य तक नही पहुचा जा सकेगा। आचार प्रधान जीवन की गति समुन्नति की ओर अग्रसर होती है।

अत सत्य सिद्धान्तो के प्रति आस्था का भाव बनाइये, उनका अध्ययन-मनन कीजिये तथा उनके निर्देशो के अनुसार अपने आचरण को ढालिये, फिर जीवन मे आत्मविकास की समाधि—शान्ति अवश्य प्राप्त होगी।



आचार शिथिलता और क्रांति

श्री महावीर नमो वरनाणी
शासन जेहनो जाण रे प्राणी.......

महावीर प्रभु की प्रार्थना के प्रसंग मे समाधि के कारणो पर विवेचन चल रहा है । समाधि अर्थात् आत्मा को शान्ति लाभ होने के चार कारण बताये हैं, जिनमे से सूत्र तथा विनय समाधि का विवेचन हो गया था तथा आचार समाधि का विश्लेषण किया जा रहा है । आचार समाधि के बाद ही अन्तिम तपस्या समाधि बताई गई है ।

सबसे पहले भगवान् महावीर ने आचार को महत्त्व दिया, परिणाम स्वरूप बारह अगो मे से पहला अग आचाराग कहलाया । यही प्रभु की प्रथम देशना थी । सभी शास्त्रो का आचाराग सूत्र से आरभ हुआ । आचार-पालन से ही पवित्रता का प्रसार होता है । सामयिक जीवन की चर्या से जीवन मे उत्क्रान्ति जन्म लेती है तथा जीवन का महत्त्व मुखरित होता है ।

निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति का अबाध प्रवाह

आत्मा का चरम लक्ष्य मोक्ष बताया गया है तथा उसकी प्राप्ति का साधन महावीर-दर्शन के निचोड़ रूप मे कहा गया है—सम्यक् दर्शन ज्ञान

चारित्राणि मोक्ष-मार्ग। । ज्ञान एव आचरण के साथ दर्शन-आस्था का सयोग होना चाहिये तथा तीनो अपने स्वरूप की दृष्टि से सम्यक् होने चाहिये। सच्ची आस्था, सच्चा ज्ञान तथा सच्चा आचरण मोक्ष प्राप्ति के साधन रूप कहे गये हैं। इस मार्ग पर चलने की शिक्षा देने वाली जो सस्कृति है, महावीर प्रभु द्वारा सस्थापित वही सस्कृति निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति के नाम से विख्यात हुई है। इस सस्कृति का मूलाधार है—श्रमण, जो सच्चे आचरण की सजीव मूर्ति होता है और इस सस्कृति तथा उसके मूलाधार में कही कोई ग्रंथि—गाठ नही होनी चाहिये। ग्रंथि वह होती है जो कही भी विचार, वचन अथवा कार्य की दृष्टि मे मोक्ष-मार्ग पर चलने मे बाधा रूप हो। श्रमण इन सारी बाधाओ पर विजय पाकर ही मोक्ष-मार्ग पर आगे बढ़ता है और निर्ग्रंथ बनता है।

यही सस्कृति आत्म-भाव की आराधना का निर्देश देती है तथा देती है आत्मा को समाधिस्थ बनाने की प्रेरणा। यह सस्कृति सूत्र द्वारा निर्देशित है, विनय पर आधारित है, आचार द्वारा सचालित है तो तपस्या द्वारा परिपुष्ट है और इसीलिए आत्म-समाधि की दिशा मे गति कराने वाली है। सम्यक् आचरण से ही सम्यक् समाधि की उपलब्धि होती है और यह सम्यक् आचरण तपस्या की आराधना से तेजस्वी बनता है। वही आचरण आचाराग सूत्र के माध्यम से अहिंसा के रूप मे विख्यात हुआ है जिसकी क्रमिकता ढाई हजार वर्ष से चलती हुई आ रही है। तब से निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति का जो प्रवाह बह रहा है वह प्रवाह इसी गति से इक्कीस हजार वर्ष तक बहेगा। बीच-बीच मे प्रवाह के वेग मे कही बाधा आई है याने आचार पालन मे शिथिलता आने लगी तो विशिष्ट व्यक्तियो ने उसमे क्रान्ति लाने की दृष्टि से अपने जीवन समर्पित किये हैं। ऐसे ही निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति के प्रति जीवन समर्पित करके आचार क्षेत्र मे क्रान्ति लाने वाले एक महापुरुष का आज उल्लेख किया जा रहा है, जिनकी क्रान्ति का परिणाम दूसरे रूप मे आप देख रहे हैं। ये महापुरुष हैं धर्मप्राण वीर लोंकाशाह, जिनकी आज जन्मजयन्ति है।

शिथिलाचार का विस्तार तथा वीर लोंकाशाह का संघर्ष

लोंकाशाह ने उस युग मे शिथिलाचार के विरुद्ध जो कठिन सघर्ष किया तथा नई क्रान्ति लाकर महावीर के सम्यक् आचार की जो पुन प्रतिष्ठा की, उनका वह वीरत्व चिर-स्मरणीय रहेगा। उस समय के चतुर्विध सघ मे व्याप्त वायुमडल मे उन्होंने उत्प्रेरणा दी तथा ससार को बतला दिया कि साधु-जीवन की पुनीत मर्यादाए शिथिलाचारियों द्वारा नष्ट नहीं की जा सकेंगी तथा

वे मर्यादाएं सदा चमकती रहेगी । समय-समय पर अन्य महापुरुषों ने भी इन मर्यादाओ की चमक मे वढोतरी की है ।

लोकाशाह के समय मे जहा अन्य कई प्रकार की विषमताएं चल रही थी, वहा आडम्बर की स्थिति अत्यधिक विषम वनी हुई थी । आडम्बर का तात्पर्य क्या ? जन समुदाय का एकत्रित हो जाना आडम्वर नही कहाता । आडम्वर की स्थिति वहा पर बनती है, जहा व्यर्थ की हिंसाओ का प्रसंग आता है । व्यर्थ की हिंसा से अभिप्राय यह है कि धर्म-स्थल पर ही रसोई वनाना, अग्नि सम्वन्धी आरभ-समारंभ करना तथा कोरे प्रदर्शन के साधन खड़े करना । आचाराग सूत्र मे जिन वातो का निषेध है, उन वातो पर व्यवहार करने और स्वस्थ आचरण मे शिथिलता लाने से आडम्वर का वातावरण तैयार किया जा रहा था । इस शिथिलाचार ने लोकाशाह की आत्मा मे जागृति उत्पन्न की और वे इस विकृत वातावरण से सफल संघर्ष करने के लिये कटिवद्ध हो गये ।

लोकाशाह ने उस आडम्वर के विरुद्ध शंखनाद किया और जन समुदाय के वीच मे समाधान दिया कि आडम्वर व्यर्थ की हिंसा है और उसे दूर किये विना आचार की पवित्रता स्थापित नही जा सकेगी । उन्होने इस विचार का प्रसार किया कि इस आडम्वर के पीछे महावीर प्रभु द्वारा निर्देशित साधु-आचार विकृत वनाया जा रहा है जिससे श्रमण संस्कृति की प्रतिष्ठा को हानि पहुच रही है और इस हानि से संस्कृति की रक्षा आवश्यक है । उन्होने प्रेरणा दी कि शिथिलाचार को सहन नही करें और शिथिलाचारियो को अपने आचार की मर्यादाओ का यथासूत्र पालन करने के लिये विवश करदें । किसी से साधु आचार का पालन नही किया जा सकता हो तो वह दीक्षा न ले, लेकिन दीक्षा लेने के वाद ढिलाई न रखे । इस प्रकार धर्म के नाम पर फैलाये जाने वाले आडम्वर का उन्होने डटकर विरोध प्रारभ कर दिया ।

आडम्बर क्या होता है, और क्या नहीं होता है ?

धर्म के नाम पर किया जाने वाला व्यर्थ की हिंसा का आचरण तथा प्रदर्शन आडम्वर की व्याख्या मे आता है । साधु निर्ग्रंथ होना चाहिये और वह इस प्रकार के आडम्वरो को चलावे तथा वढावे तो उसके वैसे आचार को शिथिलाचार कहा जायगा । आचार पालन मे ढिलाई करने वाला शिथिलाचारी संस्कृति की अत्यधिक हानि करता है, क्योकि वह अपने शिथिलाचार को सही वताने की चेष्टा मे सिद्धान्तो को भी कलंकित वनाता है । आडम्वर इस प्रकार धर्म के नाम पर किया जाता है और धर्म के ही स्वरूप को वह विकृत

बनाता है। वास्तव मे आडम्बर जन-मानस को भ्रमित बनाकर धर्म की जडो पर ही कुठाराघात करता है।

कोई जन समुदाय धर्म-स्थल पर एकत्रित होता है जो प्रवचन श्रवण करता है अथवा अन्य धार्मिक क्रिया आराधता है तो वह आडम्बर नही कह-लायगा, बल्कि ऐसे जन समुदाय से तो धर्म जागरण का प्रसग उपस्थित होता है। जन समुदाय किसी धर्म-स्थल पर तभी एकत्रित होता है, जब उनके मन मे धार्मिक उत्क्रान्ति की भावना प्रबल बनती है। जहा तीर्थंकर भगवान् का समवशरण होता था, वहा विशाल जन मेदिनी एकत्रित होती थी और जन ही क्यो—देव, देवी, तिर्यंच आदि बारह प्रकार की परिषद उपस्थित होती थी। उस अधिक सख्या की उपस्थिति को कही भी आडम्बर नही कहा गया है।

जन समुदाय को एकत्र करना दूसरी बात है, लेकिन जन समुदाय का एकत्रित हो जाना महत्वपूर्ण माना जाता है। महावीर प्रभु ने दीक्षा ली तो जन-समुदाय को एकत्रित करने के लिये दीक्षा नही ली, बल्कि उनकी दीक्षा के पावन प्रसग से जन समुदाय एकत्रित हो गया। वह एक प्रकार से धर्म जाग-रण का प्रसग था। महावीर ने आध्यात्मिक जीवन को प्रकाशित करने के लिये आत्म-शुद्धि की भावना से दीक्षा ली तथा धर्म-साधना मे रत होगये। परन्तु जब उनके आध्यात्मिक जीवन का प्रकाश चारो ओर फैलने लगा तो उनकी देशना श्रवण करने के लिये जन समुदाय स्वत ही एकत्रित होने लगा—कोई किसी को निमत्रण नही देता था। जहा स्वत जन समुदाय उपस्थित होता है, वहा वास्तविक धर्म-जागरण का दृश्य दिखाई देता है। बुलाने पर या जबरदस्ती लाने पर धर्म-बोध दिया भी जाय तो वह ऊपर से ही ठूसा जाता है, उसका असर नही होता। अन्दर की शक्ति से स्वत जिज्ञासा उत्पन्न होती है, उसी प्रेरणा से बडे-बडे सम्राट, राजा-महाराजा, वासुदेव व श्रेष्ठिजन भगवान् के समवशरण मे उपस्थित हुआ करते थे तो उनके उस आगमन को आडम्बर नही कह सकते है।

ऐतिहासिक सम्राट श्रेणिक जब कभी प्रभु के समवशरण मे जाते थे तो चतुरगिणी सेना के साथ जाते थे जिससे दृश्य भव्य बन जाता था। इसके लिये कोई आडम्बर की गणना करे तो वह उचित नही, क्योकि प्रभु न तो किसी को बुलाते थे, न ही किसी हिंसादिक प्रक्रिया का समर्थन करते थे। जिन-जिन के दिल मे भावना उमडती थी, वे आस्थापूर्वक वहा पहुच जाते थे। आज भी जो लोग अपनी धर्म-जागृति की दृष्टि से सन्तो के पास पहुचते

, उनकी जिम्मेदारी स्वयं उन पर रहती है, न कि सन्तों पर । सन्त अपने कर्त्तव्य की दृष्टि से चले तथा गृहस्थ अपनी स्थिति से मर्यादित रहे तो वहा आडम्वर नही होता, बल्कि आत्मशुद्धि का प्रसग ही वनता है ।

धर्म के प्रति जागृति वास्तविक होनी चाहिये !

धर्म के प्रति जब जागृति अपने वास्तविक रूप मे होती है तो वहा पर आडम्बर का प्रवेश ही नही हो सकता है। आडम्बर से शिथिलाचार बढता है तो धर्म जागृति से आचारनिष्ठा विकसित होती है , और इस आचारनिष्ठा के प्रचार-प्रसार मे सहयोग करने को धर्मलाभ का कारण माना गया है । इसीलिये जहा पर भगवान् के समवशरण की रचना होती थी, वहा देवगण आकाश मे दुदुभि बजाते थे । इसे वे अपना कर्त्तव्य मानकर समवशरण की सूचना देते थे । जहा धर्मलाभ का प्रसग हो वहा निषेध करने से अन्तराय कम का वध हो सकता है । समवशरण मे सचित् पदार्थ नही जा सकते थे तो कभी कोई ऐसे पदार्थ जैसे फूलमाला वगैरा वहा ले जाने की प्रेरणा नही देता था । गृहस्थ अपनी मर्यादा से चलते थे । आज भी इस प्रकार जनसमुदाय की उपस्थिति धर्मजागरण प्रकट करती है अथवा आडम्बर दिखाती है—इस का निर्णय इसी कसौटी से लिया जाना चाहिये कि उस जन समुदाय मे धर्म के प्रति जागृति का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगत हो रहा है या नही ।

गृहस्थो को धर्मस्थल पर अथवा सन्तो के पास जाते समय अपनी धार्मिक जागृति को ही प्रमुखता देनी चाहिये तथा समुचित मर्यादाओ का पालन करना चाहिये । सन्त मर्यादा-पालन का प्रतिवोध दे सकते है किन्तु किसी का हाथ नही पकड सकते है । वे तटस्थ भाव से प्रवचन देते है अथवा अपनी साधना मे तल्लीन रहते हैं । धर्म के प्रति गृहस्थो मे जव वास्तविक जागृति होती है तथा वे सन्तो के पास पहुचते है तो उन्हे अपनी मर्यादाओ का पालन करना चाहिये तथा किसी प्रकार के आडम्वर मे नही पड़ना चाहिये ।

तात्विक दृष्टि से विश्लेषण करे तो सार रूप तथ्य यह है कि प्रभु द्वारा निर्देशित आचार मे चाहे वह साधु का आचार हो या श्रावक का आचार, किसी रूप से शिथिलता को नही आने देनी चाहिये । शिथिलता तभी घुसती है, जब आडम्वर वढता है । वास्तविक धर्म जागृति की अवस्था मे तो आचार पुष्ट वनता है तथा प्रकाशित होता है।

क्रान्ति जगाने का अर्थ है आचार धर्म को परिपुष्ट बनाना

आचार धर्म का परिपालन पूर्ण शुद्ध रूप मे चलता रहे—यह मूल लक्ष्य होना चाहिये। काल प्रवाह मे जब भी उस परिपालन मे किसी भी कारण से किसी रूप मे शिथिलता प्रवेश न कर सके—इसकी सजगता होनी चाहिये और यदि शिथिलता प्रवेश कर जाय तो प्रबुद्ध जनो को इस रूप मे क्रान्ति जगानी चाहिये कि पुन आचार धर्म परिपुष्ट बन जाय।

साधु हो या श्रावक—अपने आचार के शुद्धिपूर्वक पालन मे उसे पूरी सावधानी बरतनी चाहिये। सावधानी रखते हुए भी कही स्खलन हो जाय—पहले ज्ञात न हो और बाद मे ज्ञात हो तो साधु या श्रावक उसका शुद्धिकरण करे, न कि उस भूल को दबाने की कोशिश करे। जानते हुए भूल नहीं होनी चाहिये और अनजाने मे जो भूल हो जाय, उसका समुचित रूप से परिमार्जन कर लेना चाहिये। ऐसी अवस्था मे ही आचार धर्म सुव्यवस्थित रूप से बना रह सकता है। परिमार्जन, पश्चात्ताप एव प्रायश्चित के क्रम से भूलो की पुनरावृत्ति कम होती जायगी तथा शुद्धाचार का स्वरूप पवित्र बनता जायगा।

आचार धर्म का परिपुष्ट रूप सन्त जीवन मे परिलक्षित होना चाहिये। सन्त जीवन ही सारे समाज के लिये आदर्श रूप होता है। जब शिथिलाचार सन्त जीवन मे प्रवेश करता है तभी आचार धर्म का रूप विकृत होने लगता है और सारे समाज मे शुद्धाचार के सम्बन्ध मे विविध भ्रान्तिया उत्पन्न हो जाती है। सन्त जीवन सिर्फ शरीर का पिंड या वेश मात्र नही होता है। शरीर पिंड तो आपका भी है, लेकिन आपका आचार-धर्म गृहस्थ या श्रावक मर्यादा मे होता है, लेकिन आचार धर्म का सूक्ष्म रूप से पालन साधु अवस्था मे करना होता है। सन्त जीवन का शरीर भी पच महाव्रतो की आराधना मे पूर्ण रूप से सहायक बना रहना चाहिये। शिथिलाचार को हटाना है और शुद्धाचार का पालन करना है—मुख्य रूप से क्रान्ति का यही मर्म है।

शुद्धाचार के परिपालन मे समन्वित सहयोग की अपेक्षा

आज चातुर्मास समापन के बाद विदाई के अवसर पर देशनोक नगर के अध्यक्ष व मंत्री बोले है तथा अ भा साधुमार्गी सघ के मंत्री भी बहुत कुछ बोल गये है। और भी कई भाई बोले है। विदाई की दृष्टि से आप जो सोचते है, वैसी विदाई नही देनी है और इस शरीर पिंड की विदाई खास महत्त्व नही रखती है। आप तो पच महाव्रतो को अपने अन्त करण मे बिठाइये

और सन्त जीवन की समीक्षा करते रहिये कि वह शुद्धाचार की पटरी पर किस रूप मे चल रहा है। मुझे चतुर्विध सघ का पूर्ण वात्सल्य मिला है और भगवान् ने भी चतुर्विध सघ को साधु का 'अम्मा पियरा' (माता-पिता) कहा है, जिसका अभिप्राय है कि सन्त जीवन के शुद्धाचार की रक्षा मे श्रावक-श्राविकाए भी अपना वात्सल्य समर्पित करे।

मै इस वृत्ति को शुद्धाचार के परिपालन मे समन्वित सहयोग की दृष्टि से देखता हू। साधु-साध्वी अपनी मर्यादाओ के अनुसार श्रावक-श्राविकाओ को धर्म का—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य का प्रतिबोध देते है तो श्रावक-श्राविकाओ मे भी इस प्रकार का विवेक जागृत रहना चाहिये जो सन्त जीवन मे शुद्धाचार के परिपालन मे प्रहरी का काम करे। शुद्धाचार की सुरक्षा मे किसी प्रकार की पक्षबन्दी नही आनी चाहिये। जैसे आपका पुत्र कोई भूल करता है तो आप उसकी हित-कामना से उसको उसकी भूल बता देते हैं और उसे सुधारने का निर्देश देते है। उसी प्रकार सन्त जीवन मे शुद्धाचार की सुरक्षा के लिये भी आपको ऐसा वात्सल्य दिखाना चाहिये। दोनो वर्गो के समन्वित सहयोग से ही शुद्धाचार का परिपालन सहज बन सकेगा तथा चतुर्विध सघ का आचार धर्म देदीप्यमान हो सकेगा।

आत्मिक उत्क्रान्ति की भावना को अक्षुण्ण बनाये रखें

वीर लोंकाशाह को स्मरण करने का यही अभिप्राय होना चाहिये कि जिस प्रकार शिथिलाचार के भारी विस्तार के बीच मे भी उन्होंने अपनी आत्मिक उत्क्रान्ति की भावना को बल दिया तथा सारे समाज मे ऐसी उग्र क्रान्ति फैलाई जिससे शुद्धाचार की पुनर्प्रतिष्ठा हो सकी।

आज भी और प्रत्येक समय मे प्रबुद्ध आत्माओ का यह कर्त्तव्य होता है कि वे चतुर्विध सघ के सभी वर्गो मे उनके लिये निर्देशित आचार धर्म के पालन पर कडी नजर रखें और जहा कही शिथिलाचार की छाया भी दिखाई दे तो उसमे सघर्ष करके शुद्धाचार की प्रतिष्ठा मे अपना योगदान दे। आचार सम्बन्धी यह क्रान्ति सदा चलती रहे तो आत्मिक उत्क्रान्ति आसान बनी रहेगी।



अपनी आलोचना अपनी आवाज

श्री महावीर नमो वरनाणी
शासन जेहनो जाण रे प्राणी……

महावीर प्रभु की यह प्रार्थना ग्रात्मभाव ग्राराधना की प्रेरणा दे रही है ग्रौर इसके लिये भीतरी विशेषता को सूक्ष्म रूप से ग्रवलोकन करने की ग्रावश्यकता है । पवित्र ग्रवलम्बन के बिना चेतन की जागृति का भव्य स्वरूप ग्रहण करना कठिन होता है । ग्रन्तश्चेतना जब सोई हुई रहती है ग्रौर ग्रपनी शक्ति-सीमाग्रों को भी भूल जाती है, तब उसके लिये एक ऐसे निमित्त की जरूरत होती है जिसकी प्रेरणा से उसकी शिथिलता दूर हो सके ।

यह आत्मा किसका अवलम्बन ले ?

ग्रनादिकाल से ग्रात्मा का स्वरूप कर्मों के ग्रावरण से ग्राच्छादित है । बन्धन में रहती हुई इस ग्रात्मा ने सदा बन्धनकारक तत्त्वों का ही सहारा ढूँढा है ग्रौर सहारा लिया है—बन्धन-युक्त पदार्थों के पीछे ही ग्रपनी शक्ति का नाश किया है । इस ग्रात्मा ने ग्रपनी निज की शक्ति की पहिचान नहीं

की। आत्म–शक्ति की पहिचान कराने वाला जो प्रमुख अवलम्बन है, उसे भी इस आत्मा ने नही पहिचाना।

इस कारण प्रश्न उठता है कि यह आत्मा किसका अवलम्बन ले ? कौनसा अवलम्बन पवित्र है तथा आत्मोद्धारक बन सकता है ? इसका निर्विवाद उत्तर है कि ऐसा पवित्र अवलम्बन परमात्मा का है, जो सत्‌चित् एव आनन्द स्वरूप म रमण करते हुए सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है । परमात्मा इस आत्मा के लिये प्रेरणा के स्तभ एव ज्योति स्वरूप है कि वह कर्मो के आवरण से अपने स्वरूप को मुक्त करले एव स्वयं भी परमात्म स्वरूप का वरण करने के लिये अग्रगामी बने । परमात्मा के पवित्र अवलम्बन को ग्रहण नही करके इस आत्मा ने अब तक बडी भूल की हे । इस भूल का सुधार इसी जीवन मे और वह भी जल्दी से जल्दी बन जाय तो मनुष्य तन के अन्दर रहने वाली यह आत्मा अपनी पिछली गलतियो को महसूस कर लेगी तथा उनको सुधार लेने का पराक्रम भी प्रकट कर सकेगी । अपनी भूलो का परिमार्जन करके यदि यह आत्मा चलने लगे तो वह धन्य हो जाय ।

किन्तु परिमार्जन की क्रियाशीलता तभी पैदा हो सकेगी, जबकि परमात्मा को पवित्र अवलम्बन के रूप मे स्वीकार किया जाय तथा सदा ही अपने सामने आदर्श रूप मे उनके पवित्रतम स्वरूप को रखते हुए गति की जाय ।

अपनी आलोचना स्वय करेंगे तो अपनी भूलें जान सकेंगे !

अपूर्ण आत्माएं पग–पग पर भूलें करती है, लेकिन उन भूलो को समझने तथा महसूस करने का प्रयास वे नही करती हैं । विरली ही आत्माए होती है, जो उन भूलो को महसूस करके उनको परिमार्जित करने के लिये आगे बढती है । अपने आपका सशोधन करना सामान्य बात नही है । अपने गलती करें तो आगे पीछे अपनी दृष्टि मे वह आ ही जाती है और कदाचित् अपनी दृष्टि मे नही भी आवे तब भी यदि कोई उसको बतलाने की कोशिश करे तो साधारणतया उससे लडने लग जाते है तथा उसको अपना शत्रु मान बैठते है कि उसने मेरी गलती बतलादी । गलती को सुधारने की भावना आसानी से नहीं बनती है । दूसरा गलती बतलादे तो वह उपकार करता है कि उसने हमारी आंखें खोल दी, कारण अपनी आंखें खुली हुई रखते तो वह गलती अपनी ही आखो को दिखाई दे जाती । वास्तव मे यदि अपनी ही आंखें खुली रहे और अपने ही अपनी गलतियो को महसूस कर ले तो उनका सुधार करने का लक्ष्य भी क्रियाशील बना रह सकता है ।

अपनी भूलें स्वयं तभी जान सकेंगे जब कि हमारे ज्ञान चक्षु खुले रहें और इन ज्ञान चक्षुओं को खुले रखने का उपाय है कि हम नितप्रति अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की स्वय आलोचना करते रहे। अपनी आलोचना का अर्थ है अपनी आत्मा के स्वरूप को नितप्रति देखते रहना और परखते रहना कि उस पर कर्मों के आच्छादन की क्या अवस्था है ? इस आलोचना से यह ध्यान बना रहेगा कि यह आच्छादन घटता रहे। इस ध्यान के परिणाम स्वरूप अपनी वृत्तियों और प्रवृत्तियों को शुभ योग मे नियोजित रखने की चेष्टा बनेगी तो भूलों का परिमार्जन करते रहने का भी अभ्यास होने लगेगा। जब भूलें सुधरती जायगी तो आगे से वे भूलें फिर नही होगी और इससे कर्म बन्धन का सिलसिला कमजोर बनेगा और आत्मा मे हल्कापन आवेगा।

अपनी आलोचना स्वय करना—यह अन्तर्दृष्टि की बात है। जो अपने भीतर देखने का अभ्यास करता है वही अपनी आलोचना भलीभांति कर सकता है। हमने क्या न करने लायक किया है और क्या करने लायक नही किया है—इसका सही-सही बोध इस आलोचना-पद्धति से ही हो सकता है। भव्य आत्माए तो सदा इसी चेष्टा मे रहती हैं कि मेरे जीवन का मैं स्वय अवलोकन करूं तथा दूसरे भी जो भूलें बतावें उनको ध्यान मे लेकर उनका भी संशोधन कर लूं। मेरा परिमार्जन मैं स्वय भी करूं तथा इसमे दूसरों का भी सहयोग लूं। जो इसमे सहयोग देते हैं, वे मेरे परम हितकारी हैं। त्रुटियां बताने वाले शत्रु नही सहायक होते हैं। इस दृष्टि से आत्मालोचना के महत्त्व को समझना चाहिये।

भूल का ज्ञान पहले, उसका परिमार्जन बाद मे

आत्मालोचना के माध्यम से अथवा दूसरों के बताने से जब अपनी भूल का सही ज्ञान हो जायगा तभी उसके परिमार्जन की वृत्ति एव चेष्टा बन सकेगी। अपनी भूल का पहले ज्ञान करने के लिये अपने हृदय से से संकोच को निकाल देना चाहिये। इस संकोच की दो प्रकार से प्रतिक्रिया होती है। एक तो सही माने अपनी आलोचना की वृत्ति नहीं बनती है तथा अपनी आलोचना करके अपनी भूल ज्ञात भी की जाती है तो उसे बाहर प्रकट नहीं करके उसे छिपाने की कोशिश की जाती है। इस संकोच से मनुष्य अपनी भूल से [illegible] से घबराता है। दूसरे रूप से वह संकोच अपनी भूल बताने वाले व्यक्ति को अपने शत्रु मानने की समझ देता है। इस कारण यह संकोच सर्वथा त्याज्य है।

भव्य आत्माएं अपनी आलोचना स्वयं करती है तथा नित्यप्रति की जाने वाली ऐसी आलोचना से अपनी रोज की भूलों को जानती हैं। ऐसे ज्ञान से उनको समझ मे आता है कि कौनसी प्रवृत्तिया त्याज्य होती हैं तथा कौनसी प्रवृत्तिया ग्राह्य ? इस दृष्टि से वे अपनी भूल का परिमार्जन करते हुए त्याज्य प्रवृत्तियो को छोडती हैं तथा ग्राह्य प्रवृत्तियो को अपनाती है । दूसरे जो भी व्यक्ति चाहे जिस भाव से उनको उनकी गलतियां बताते है तब भी वे तो उनको अपना हितैषी एव सहायक ही मानती है । जैसे आपके चावल या अनाज मे पडे हुए ककर को या तो आप खुद चुन ले तो आपके खाने मे किरकिर नही आवेगी। लेकिन आप अगर उन ककरो को न चुनें या पूरी तरह नही चुन सके तथा दूसरा आगे आकर आपके लिये उन ककरो को चुनने लगे तो उससे आपका अहित होगा अथवा हित ? अनाज मे पडे हुए ककर, पत्थर आदि को जो भी व्यक्ति आगे आकर आपके लिये निकालता है—चुगता है तो वह आपको हानि नही पहुचाता बल्कि आपको शुद्ध भोजन सुलभ करने मे सहायता ही करता है। अत आपको अपनी भूल बताने वाले के प्रति आभार ही प्रकट करना चाहिये । लोग तो पैसा देकर अनाज मे मे ककर निकलवाते हैं, फिर कोई मुफ्त मे ही निकाल दे तो उसका आभार ही मानना होगा ।

इसका अभिप्राय है कि आलोचना आत्मा को प्रिय लगनी चाहिये और अपने ही द्वारा आलोचना के क्रम को मजबूत बनाना चाहिये । क्योंकि आलोचना की पद्धति से आत्मविकास की गति सन्तुलित एव स्वस्थ बनी रहती है ।

भूलों और गलतियों के पीछे स्वार्थ, अहंकार एवं लालसाएं

भूल होती है या गलती बनती है अथवा जाने व अनजाने इनकी पुनरावृत्ति होती रहती है तो उसके पीछे कुछ मनोवृत्तिया काम करती है । वे मनोवृत्तिया स्वार्थ, अहकार आदि अशुभ वृत्तियो से विकृत होती है तो नाशवान पदार्थों को प्राप्त करने की लालसाओं से उत्तेजित बनी रहती है । इसी कारण छोटी-छोटी बातों मे मनुष्य उलझता रहता है और बार-बार भूलो मे पडता रहता है, बल्कि कई बार तो भूल को भूल समझ कर भी भूल करता रहता है । अपना मतलब और अपना अह मनुष्य को कई बार पागल सा बना देता है कि वह अपनी आलोचना को सहन नही कर सकता है तथा अपने विचार मे भी अपना सशोधन नही कर पाता है । यह तो नही होना है सो नही ही होना है, लेकिन अपना मतलब पूरा करने के पीछे वह ऐसे दावपेंच खेलने लगता

है जिनसे निकाचित कर्मों का बंध होता है । वे दावपेंच उसकी आत्मा को पतन के गर्त मे पटक देते है ।

मैं ऐसे मनुष्यो को नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं कि अरे मानव, तू सोच तो सही कि क्या इन नाशवान पदार्थो, अहंवृत्ति, छलबल तथा दावपेच की कीमत अपने आत्मस्वरूप को विकृत बनाकर तो नही चुका रहा है ? तू अपने स्वार्थ के पीछे दावपेंच खेलता है और उसमे जो बाधा डालता है, उससे तू बदला लेना चाहता है लेकिन सोच कि तू किससे बदला लेगा ? उससे तो बदला लिया जायगा या नही तू अपनी ही आत्मा से जरूर बदला ले लेगा कि उन दुष्प्रवृत्तियो के कारण आत्मा अधिकाश अशुभ कर्मों से आच्छादित बन जायगी । सामान्य दृष्टि से भी सोचा जाय तो कोई साधारण व्यापारी भी घास-फूस के बदले रत्न नही देता है । ससारी पदार्थ घासफूस के समान हैं जिन्हे प्राप्त करने के लिये हे मानव, तू अपने आत्म रत्न को नष्ट कर रहा है, यह कितनी चिन्तनीय अवस्था है ?

किसी ने दो अगुल जमीन दबा दी तो आप उससे लडने मे कई अगुल शक्ति खर्च कर देते हैं, किसी ने थोडी सी हेठी बता दी तो उसे तोडने मे आप अपने को भूल जाते हैं और ऐसी ही व्यक्तिगत कमजोरिया जब राष्ट्रीय धरातल पर भी उठने लगती हैं तो भूलो और गलतियो का दायरा भी बहुत बढ जाता है तथा बहुत घातक भी बन जाता है । इसलिये मनुष्य अपने आप मे सावधान बने—यह सबसे पहले जरूरी है । अपने आपमे सावधान तो वह अपनी निरन्तर आलोचना से ही बन सकता है । अपनी आलोचना से चैतन्य जागृत रहता है । सन्तो की सावधानी भी तब असर करती है और त्रुटियो को बताने वाला सहायक भी तब ही समझ मे आता है ।

अपनी आलोचना की श्रेष्ठ पद्धति है--प्रतिक्रमण !

अज्ञानी मनुष्य चाहे अस्थायी रूप से भी सुधरते हैं, तो वे सुधरते है या तो सरकारी दंड से या कर्मों की चपेट से, लेकिन जो वास्तविक संशोधन होता है, वह आत्म-प्रेरणा से ही होता है तथा यही संशोधन स्थायी भी होता है । यह आत्म प्रेरणा जागृत बनती है आत्मालोचना से । अपने विचारो, वचनो एव कार्यो की स्वय आलोचना करे तथा करते रहे तब अपने आत्मस्वरूप का सही ज्ञान होता है और उसी से आत्म प्रेरणा जागृत बनती है कि अपने आत्म-स्वरूप को परिमार्जित करते हुए उसे उत्थानगामी बनावें ।

प्रतिक्रमण तो आप लोगो मे से कई रोज करते होंगे, कई पाक्षिक

आदि लेकिन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण तो करीव-करीब सभी करते होगे। यह प्रतिक्रमण क्या केवल निर्धारित पाठ वोलकर ही पूरा कर लेते हैं अथवा उन पाठो के भावो मे भी उतरते है ? वे पाठ बडे महत्त्वपूर्ण है तथा उनके भावो के भीतर उतरने पर ही सही अर्थो मे प्रतिक्रमण होता है। प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ ही स्पष्ट है कि प्रति=पीछे+क्रमण=हटना अर्थात् पीछे हटना। यह पीछे हटना किससे ? स्पष्ट है कि पाप कार्यो से। पाप से पीछे हटना—यह प्रतिक्रमण की मूल प्रेरणा है तथा प्रतिक्रमण की आधारशिला है अपनी आत्मा की आलोचना। प्रतिक्रमण का विधान सजग आत्माओ के लिये दिन और रात दोनो का है। प्रात प्रतिक्रमण करके रात्रि की वृत्तियो व प्रवृत्तियो की आलोचना एव उनका परिष्कार करो तो सायकाल मे पुन प्रतिक्रमण करके दिन के अपने कार्यकलापो को आत्माभिमुखी बनाओ। जिन आत्माओ मे जागृति की न्यूनता है, वे कम से कम पाक्षिक प्रतिक्रमण अवश्य करे और सबसे कम वर्ष मे एक बार सावत्सरिक प्रतिक्रमण तो करें ही तथा अपनी वर्ष भर की भूलो के लिये क्षमायाचना करे।

अपने विचारो, वचनो तथा कार्य-कलापो की आलोचना करना, उनकी अशुभता से पीछे हटना एव उनका परिमार्जन करते हुए उनकी शुभता को अभिवृद्ध बनाना—यह भव्य आत्माओ का लक्षण माना गया है। जो आत्मा इस श्रेष्ठ पद्धति का अनुसरण करती है, उसकी अपनी आवाज मे वल आता है और वह ऊपर उठती है।

अपनी आलोचना से आत्मा की आवाज प्रबल बनती है

अपनी आलोचना करने और अपने स्वरूप को परिमार्जित करने वाली आत्मा उत्थानगामी होती है एव वैसी आत्मा की आवाज अवश्य ही प्रवल बनती है। अन्दर से उठने वाली वह आवाज अपनी आत्मा को भी सही रास्ते पर चलाती है तो अन्य आत्माओ को भी सही रास्ते पर चलने की प्रेरणा देती है। भगवान् महावीर ने फरमाया है कि कर्मो के आच्छादन को सम्पूर्णतया हटाये विना मोक्ष नही मिलेगा। मोक्ष प्राप्ति के लिये यह आत्मा पूर्ण रूप से सचेष्ट वन सके तो अतीव श्रेष्ठ है लेकिन कम से कम गलत रास्ते पर चलकर वर्तमान जीवन मे सकटो को वह बढावे तो नही। सही रास्ते को वह पहिचाने और उस पर चलने की कोशिश करे—इतनी चेष्टा तो होनी ही चाहिये। अपनी विवेकपूर्ण आलोचना करते रहकर अपनी आत्मा की आवाज को प्रवल बनाने से ही यह चेष्टा फलवती बन सकती है। आज नही तो कल यही आत्मा प्रवल आवाज आत्मा के लिये मोक्ष प्राप्ति को भी सभव बना सकेगी।

चतुर एवं विवेकी पुरुष जब इस सही रास्ते को जान लेते है तो फिर अपनी आत्म-शक्ति का अपव्यय नहीं होने देते है—संसार की लालसाओं के पीछे अपने आत्म-स्वरूप को विकृत नही बनाते हैं। उनकी आत्मा की आवाज इतनी प्रबल बन जाती है जो प्रतिक्षण उन्हे निर्देश देती रहती है तथा जीवन की नैतिक व्यवस्था को विचलित नही होने देती है । प्रबुद्ध आत्मा की गति सुस्थिर होती है और सम्यक् भी, क्योंकि भीतर की आवाज जहा पर निर्देशन तथा नियंत्रण मे बलवती होती है, वहा पर आत्म-स्वरूप मे प्रबुद्धता समा जाती है ।

जैसे कुशल जौहरी ही रत्न की सही परख कर सकता है वैसे ही प्रबुद्ध आत्मा जड एव चेतन तत्त्वो की सही-सही परख करके अपने विकास के अनुकूल साधनो को अपना लेती है ।

आत्मालोचना, आत्मशक्ति एव आत्मा की प्रबुद्धता

एक कुशल जौहरी रत्न को भीतर की परतो को बार-बार परखता है, उसकी चमक को जाचता है तभी उस का मूल्य बताता है । उसी प्रकार आत्मा का कुशल जौहरी भी आत्मालोचना के माध्यम से बार-बार अपने भीतरी स्वरूप को परखता है, उसके गुण-दोषो को जाचता है तथा दोषो को घटाते हुए गुणो मे अभिवृद्धि करता रहता है । उसकी सतर्कता निरन्तर बनी रहती है कि आत्मा का स्वरूप उज्ज्वल से उज्ज्वलतर बनता रहे । इसे ही आत्मा की प्रबुद्धता कहते है । प्रबुद्ध आत्मा ससार मे तटस्थ भाव से रहती है तथा अपने ऊर्ध्वगामी विकास की ओर एक लक्ष्य से चलती है ।

समाधि का मूल सूत्र है। शुद्ध आचार के बिना जीवन शुष्क तथा प्रगतिहीन ही रहता है। शुद्ध आचार एवं व्यवहार की स्थिति सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् श्रद्धा के साथ सुदृढ बनती है। ज्ञान एव क्रिया का भव्य समन्वय बनता है, तब मुक्तिदायिनी निर्लिप्तता का मार्ग प्रशस्त होता है।

लेप दो प्रकार का होता है। यहां लेप से अभिप्राय किसी शारीरिक लेप से नहीं हैं, बल्कि उस प्रकार के आत्मिक लेप से है, जो आत्मा पर चढकर आत्मस्वरूप को मलिन बनाता है। यह लेप दो प्रकार का इस रूप मे होता है कि पहली बार तो विषय एव कषाय की कलुषित वृत्तिया जब मन मे उठती हैं तो उनका विषैला धुआ मानस को अंधकार से घेर लेता है। एक तो लेप का यह रूप होता है, फिर दूसरा रूप तब प्रकट होता है, जब उन कलुषित वृत्तियो की उत्तेजना मे कर्मबंध का लेप आत्मस्वरूप पर चढता है। यह लेप तब तक नही उतरता या घटता है, जब तक सम्यक् आचरण को जीवन मे नही अपनाया जाता है।

इस प्रकार सांसारिक पदार्थों के प्रति जितनी ममता है और उस ममता के आवरण मे जितनी कलुषित वृत्तियो की उत्तेजना पैदा होती है उन सबके कारण यह लेप गाढ़ा और चिकना होता जाता है। तो लेप है वह ममता है और जितने अंशो मे ममता का त्याग होता है—सम्यक् आचरण की आराधना होती है, उतने ही अशो मे जीवन मे समता का विकास होता जाता है। जितनी समता आती है—उतनी ही निर्लेपता या निर्लिप्तता आती है यह मानकर चलिये।

लेप उतरता है, लेप चढ़ता है आचार की शुद्धता-अशुद्धता से

मानसिक वृत्तियों एव कर्मों का यह लेप जहा आत्मस्वरूप पर चढता है तो आचार की शुद्धता से वह उतरता भी है। आचरण जब अशुद्ध होता है तो उसका कारण अज्ञान होता है एव उस अज्ञानमय अशुद्ध आचरण के फलस्वरूप मन और इन्द्रियो पर कोई नियत्रण नही रहता। वैसी दशा मे मनुष्य का मन और उसकी इन्द्रिया अशुभ वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे इतनी बेभान होकर भटकने लग जाती हैं कि यह लेप आत्मस्वरूप पर चढता ही रहता है और वह गाढा होता जाता है। जितना अधिक गाढा लेप होता है, उतनी ही सज्ञा-शून्यता आत्मा मे समाती जाती है। इसी स्थिति को समझ कर प्रभु महावीर ने आचार को प्रथम धर्म बताया और आचार को सम्यक् बनाये रखने पर बल दिया।

आचार मे जब सम्यक् रूप से शुद्धता आती है तो उसका निर्देशक सम्यक् ज्ञान होता है। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान मन तथा इन्द्रियों को अनुशासित बनाकर उन्हे सम्यक् आचरण मे स्थिरतापूर्वक नियोजित करते हैं। इस नियोजन से उनका भटकाव रुक जाता है तथा इनका योग व्यापार शुभता की दिशा मे क्रियाशील बन जाता है। तब ममता के बन्धन टूटते रहते हैं एवं मन वचन व काया की वृत्ति-प्रवृत्तियां समत्व मे ढलती जाती हैं। अन्तःकरण की समतामय अवस्था मे लेप पर लेप नही चढ़ता और पहले का चढ़ा हुआ लेप भी उतरता जाता है। ज्यों-ज्यों यह लेप पतला पड़ता है, जीवन मे निर्लिप्तता आती रहती है तथा आत्मा का मूल स्वरूप चमकने लगता है। यह लेप या आवरण ही आत्मस्वरूप को ढकने और मन्द बनाने वाला होता है। अतः निर्लिप्तता का मार्ग वास्तव मे आचार-शुद्धि तथा आत्मोन्नति का मार्ग है। निर्लिप्तता मे ही आत्मसमाधि समाहित होती है।

आचार समाधि की स्थिरता एवं निर्लिप्तता का उद्भव

जिस जीवन मे आचार समाधि स्थिरता को प्राप्त कर लेती है, उस जीवन मे निर्लिप्तता का उद्भव हो जाता है क्योंकि आचार की आराधना से लिप्तता के बन्धन टूटते जाते हैं। सम्यक् आचरण के अनुपालन से आत्मा मे ऐसी शान्ति की अनुभूति होती है कि आचरण की उच्चता तथा शान्ति की अनुभूति मे आगे से आगे बढ़ने की जैसे एक होड शुरू हो जाती है। आत्मिक शान्ति का रसास्वादन आचार-निष्ठा को स्थिरता प्रदान कर देता है। फिर आचार समाधि का यही प्रभाव दिखाई देता है कि जितनी अधिक निष्ठा, उतनी अधिक कर्मठता और जितनी अधिक कर्मठता, उतनी ही अधिक शान्ति। आत्मिक शान्ति तब अक्षय बन जाती है।

आचार समाधि से जीवन में कितनी शान्ति, कितनी निर्लिप्तता, कितनी समता एवं कितनी स्थितप्रकृति का विकास होता है—यह आचार-साधक का अपना ही अनुभव होता है किन्तु सामान्य रूप से तो आप भी समय-समय

शास्त्रकारों ने संकेत दिया है कि यदि तुम आचार समाधि में स्थिरता प्राप्त करना चाहते हो तो ज्ञान एवं क्रिया के भव्य समन्वय की दृष्टि से अपने जीवन मे परिवर्तन लाओ। सन्त सतीवृन्द के लिये तो विशेष निर्देश है कि वे अपने जीवन मे आचार एवं विचार की प्राभाविकता को अक्षुण्ण बनाये रखें। इस प्राभाविकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ही उनके लिये जनपद विहार का विधान है। केवल चातुर्मास मे वे एक स्थान पर ठहरते हैं, अन्यथा ग्राम-नगरो मे विचरण करते रहते हैं। चार माह चातुर्मास काल मे एक स्थान पर रह कर जनता को प्रतिबोध लाभ देना एव स्वयं की आत्मसाधना करना तथा तदुपरान्त ग्रामानुग्राम विहार करते रहना—यह आचार-समाधि की स्थिरता के रूप मे रखा गया है ताकि साधु निर्लिप्त बना रह सके। एक स्थान पर पडा हुआ पानी जिस प्रकार गन्दा हो जाता है, लेकिन वही पानी बराबर बहता रहता है तो वह निर्मल बना रहता है। उसी प्रकार साधु एक स्थान पर अधिक ठहरे तो वह वहां के किसी न किसी मोह से लिप्त बन सकता है, परतु उसके निरन्तर विहार करते रहने से उसकी निर्लिप्तता अभिवृद्ध होती रहती है।

साधु जीवन की निर्लेप वृत्ति प्रभावपूर्ण होनी चाहिये

चातुर्मास काल के अन्दर उपदेश के सिलसिले मे तटस्थ भावना से वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन के प्रसग आये, उनमे भी सभी प्रकार की भावनाए मैं व्यक्त करता रहा एवं सकेत देता रहा, लेकिन किन आत्माओ ने क्या ग्रहण किया—उनके चित्त की यह बात तो ज्ञानी जन ही जान सकते है। बडे रूप मे मत्रीजी ने तपश्चर्या का चिट्ठा पेश किया है। इसके अतिरिक्त इस चातुर्मास की अन्य उपलब्धियो का उल्लेख भी किया गया है। अवशेष स्थिति की दृष्टि से कषाय प्रवृत्ति का जो प्रसग भूरा परिवारो मे चल रहा था—मामले कोर्ट कचहरियो तक पहुचे हुए थे और धनाढ्य परिवार अपनी-अपनी खीचातानी के लिये हजारो रुपये खर्च करने की हठ लेकर बैठे हुए थे—उन्होंने अन्तिम समय मे उदारता दिखाई और चातुर्मास समापन के वक्त अपने वैमनस्य को कम कर लिया। खीचते गये तब तक मनमुटाव खिचता रहा, किन्तु हतोत्साही नही हुए तो आप दृश्य देख ही चुके है। वैसा ही दृश्य सरदारशहर के लोगो का भी आप सुन चुके हैं। अच्छे काम के लिये सद् प्रयत्न करते रहे और स्वयं की निर्लेप वृत्ति प्रखर बनाये रखें तो उसका बराबर अच्छा प्रभाव पडता ही है।

मेरा मन्तव्य तो यह है कि साधु-जीवन की निर्लेप वृत्ति प्रभावपूर्ण होनी चाहिये। उसके आचार धर्म एव उसकी चारित्र्यशीलता का यह सुप्रभाव

होना ही चाहिये कि सम्पर्क में आने वाला सहज रीति से अपनी विषय-कषाय की वृत्तियों का परित्याग कर ले। विहार के कुछ क्षणों पहले मैं फिर कह रहा हूँ कि कहीं कुछ आड़ाटेढ़ा हो तो अपना-अपना अवलोकन करके चातुर्मास की समाप्ति के प्रसंग में उसे सीधा करें—इसी में आपका हित है। आप यह न सोचें कि पहल करेंगे तो कमजोर हो जायेंगे। आप कमजोर नहीं होंगे बल्कि जो पहले अपने हृदय की उदारता दिखायेगा, वह इक्कीस ही होगा और उसकी वाहवाही होगी। यह आत्मशुद्धि का प्रसंग है और इसमें किसी को पीछे नहीं रहना चाहिए।

मैं देशनोक संघ की स्थिति को अपनी स्थिति से अवलोकन करता हुआ अवश्य कहूँगा कि देशनोक संघ में संघ की हैसियत से अथवा पंचायत की हैसियत से जो कुछ प्रसंग सन्त-समागम से समाहित हुए, उनका रूपक जन-मानस के लिये आदर्श बनता है। साधु-जीवन के सम्पर्क में आकर आप भी उनकी निस्पृह वृत्ति से शिक्षा ग्रहण करें तथा अपने जीवन में उस प्रभाव का समावेश करें—यह सराहनीय है।

चारित्र्य की आराधना से सत्य की साधना

प्रभु महावीर की सम्यक् चारित्र्य रूपी जो आत्म-समाधि है, उसी के सहारे चतुर्विध संघ सुव्यवस्थित रूप से चल सकते हैं एवं इस प्रकार के चतुर्विध संघ तथा व्यक्तिगत साधु साध्वी अथवा श्रावक-श्राविका जनता के लिये मार्गदर्शन के केन्द्र बिन्दु बनते हैं। इस समाधि की प्राप्ति में जो भी सहयोग करता है उसे भी आत्मशान्ति मिलती है। महाराजा हरिश्चन्द्र का सम्पूर्ण आख्यान आपने सुन लिया है और आपने हृदय में उतारा होगा कि उन्होंने सत्य पर आचरण किया तो सत्य की कसौटी पर वे खरे उतरे। कठिन से कठिन कष्ट उन्हें सहने पड़े, लेकिन सत्य की साधना से वे विचलित नहीं हुए। [illegible] में ऐसा समय [illegible] कि [illegible] पड़ी, देवता भी उपस्थित हुए तथा विश्वामित्र ने [illegible] किया। [illegible] महाराजा और महारानी की परीक्षा से वे [illegible], किन्तु वे [illegible] के साधक [illegible] उन्होंने [illegible] थी। [illegible] संयम की [illegible] उन्होंने [illegible] की प्राप्ति की तथा [illegible] हुए।

आप भी हरिश्चन्द्र-चरित्र से सद्गुणों को ग्रहण करें और यह समझ लें कि चारित्र्य की आराधना करते हुए जो सत्य की सफल साधना करता है, वह निर्लिप्तता के मार्ग पर आगे बढ जाता है । सत्य को आप चारित्र्य की रीढ की हड्डी मान सकते है जो तभी सीधी और स्वस्थ रह सकती है, जबकि निर्लेप वृत्ति का उस मे समावेश हो जाय । सत्य की साधना से सभी आत्मिक गुणो का श्रेष्ठ विकास होता है ।

निर्लिप्त बनकर के समता के साधक बनिये !

चारित्र्य और सत्य की आराधना से आत्मस्वरूप पर चढे हुए लेप उतरते है और आत्मा मे एक प्रकार का सुखद हल्कापन आने लगता है । यह हल्कापन निर्लेप वृत्ति अथवा तटस्थ वृत्ति का होता है । मोह ममता के भाव कम होते हैं—विषय कषाय की वृत्तिया पतली पडती हैं तो मन मे निर्लिप्तता का समावेश होता है । निर्लिप्त बनने के बाद मे ही समता के साधक बन सकने का सुअवसर उपस्थित होता है। यदि आप दृढ सकल्प ले लें तो समता-दर्शन की साधना क्रमश चार विभागो मे कर सकते है जो इस प्रकार हैं—(१) समता सिद्धान्त दर्शन (२) समता जीवन दर्शन, (३) समता आत्म-दर्शन तथा (४) समता परमात्म दर्शन । इस रूप मे यदि समता की साधना करेंगे तो अपने परिवार एव समाज से भी आगे बढकर राष्ट्र एव विश्व मे आप सच्ची शान्ति फैलाने वाले बन सकेंगे । जहा तक हो सके, आप चारित्र्य एव सत्य के धरातल पर समता के साधक बनें तथा अपने निर्लिप्त जीवन से दूसरों को भी आत्माभिमुखी बनावें ।

याद रखिये कि समता की साधना मुख्यत निर्लिप्तता पर आधारित होती है । जितनी मन मे ममता है, उतना ही रोष, विक्षोभ और असन्तोष है तथा इन भावनाओ से मन मे क्लेश तथा कष्ट भरा हुआ रहता है । जिन-जिन व्यक्तियों अथवा पदार्थों के प्रति ममता होती है, उनकी चिन्ता से हर समय मन मे व्याकुलता बनी रहती है । पहले चिन्ता उनको सुख देने की कामना से होती है तो बाद मे चिन्ता उनके कृतघ्न बन जाने से होती है कि उन्होंने वापिस आपको सुख पहुचाने की चेष्टा नही की । इस प्रकार मोह ममता मे सर्वत्र कष्ट और दुःख ही सामने आते है—सुख का क्षण तो शायद आता ही नहीं है और जिस सुख का कभी आपको आभास होता है तो वह आभास झूठा होता है । निर्लिप्त होने का यही अभिप्राय है कि आप इस ममता से अपना पीछा छुडावे तथा हृदय मे तटस्थ वृत्ति धारण करे । तटस्थ वृत्ति के आ जाने पर समता की साधना सहज हो जायगी ।

जहां निर्लिप्तता आ जाती है वहां आनन्द ही आ जाता है

जितना दुःख और कष्ट, जितनी चिन्ता और व्यथा [illegible] जो सताती रहती है, वह ममता के कारण ही। जब ममता छूट जाती है और हृदय समता का साधक बन जाता है, तब जीवन में निर्लिप्तता का प्रवेश हो जाता है। निर्लिप्तता की अवस्था में सहज भाव से सर्वहितैषिता की वृत्ति आ जाती है। सबका कल्याण हो और सबके कल्याण के लिये तटस्थ भाव से प्रयत्न किया जाय—यह भावना बन जाती है। उस समय से कर्तव्य की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की हित भावना के लिये काम किया जाता है किन्तु मोहजन्य भावुकता का वहां अभाव रहता है। वहां तो कर्तव्य करते रहने तथा सरल-समता को साधने की पवित्र भावना के कारण आनन्द ही आनन्द व्याप्त हो जाता है।

जहां निर्लिप्तता आ जाती है, वहां आनन्द ही आनन्द आ जाता है—वह सच्चा आनन्द जो सर्वदा सुखद और स्थायी होता है। वह आनन्द एक बार जब आत्मा को अपनी गहराई में डुबो देता है तो आत्मा फिर उस आनन्द से बाहर निकल जाने की कभी इच्छा तक नहीं करती है। वह चिर आनन्द ही आत्मा को [illegible] होता है, कारण वह आनन्द सत् और चित् से प्राप्त होता है तभी आत्मा को सच्चिदानन्द का पावनतम स्वरूप प्रदान करता है। सच्चिदानन्द बन जाना ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है, अतः जो भी आत्मा इस लक्ष्य की ओर गति करने में अपना पुरुषार्थ करेगी, उसका जीवन आनन्दमय बनता जायगा।

धर्म-क्षेत्र में शौर्य

श्री महावीर नमो वर नाणी
शासन जेहनो जाण रे प्राणी.......

प्रभु के चरणो मे विधिपूर्वक नमन करने से आत्म-भावो की आराधना होती है, जिसका उद्देश्य होना चाहिये कि जीवन के सार–तत्त्व को प्राप्त करले। मनुष्य जीवन को प्राप्त करके धर्म के क्षेत्र मे अपना अभूतपूर्व शौर्य नही दिखाया तथा जीवन का परम तत्त्व प्राप्त नही किया तो फिर इस जीवन की क्या सार्थकता है ?

मानव जीवन मिला, आर्य क्षेत्र मिला, आर्य धर्म की आराधना का अवसर मिला और सन्त समागम के साथ वाणी श्रवण का प्रसग भी मिला, फिर भी आत्मा का पराक्रम नही फूटा तो बताइये कि ये सारी उपलब्धिया क्या निरर्थक नही जा रही है ? अब तक साधारणत पुण्यवानी भले ही बाधी हो, लेकिन आत्म-समाधि का सूत्र नही सध सका है । प्रभु ने जो समाधि के चार हेतु बताये हैं, उनकी साधना करने से ही आप धार्मिक क्षेत्र मे शूरवीर कहला सकते हैं तथा धर्म के क्षेत्र को चमका सकते हैं ।

संकल्प की दृढ़ता हो तो वर्षों का काम पलों में

आत्मा को चरम लक्ष्य की प्राप्ति कब तक हो सकती है—इसमें समयावधि का किसी भी प्रकार से कोई बन्धन नहीं होता है। वर्षों का काम पलों में पूरा हो जाता है और पलों के काम में कई जन्म गुजर सकते हैं। विकास की ऊंचाइयों को छूने के लिये आवश्यकता होती है दृढ़ संकल्प की, समाधि की उत्कृष्टता की। आपने कथा सुनी है कि वर्षों से साधु-धर्म का पालन करने वाले आचार्य तो चेष्टा कर करके भी समाधि को प्राप्त नहीं कर सके थे परन्तु तरुण ने एक दिन के ही साधु-जीवन में केवल ज्ञान की ऊंचाई का स्पर्श कर लिया। इसके पीछे थी उसके मन की कठोर संकल्प स्थिति, हृदय की कोमलता, मेधा की उत्कृष्ट विचार श्रेणी तथा विनय की अपूर्व समाधि। विनय के मूल पर उसका धर्म इस तरह पल्लवित हुआ कि अल्पतम समय में उसको फल की भी प्राप्ति हो गई।

तरुण का साधु बनने का तो कोई भाव ही नहीं था, सिर्फ मजाक ही मजाक में वह साधु हो गया। फिर भी आत्मशक्तियों को अल्पतम समय में केन्द्रीभूत करके उच्चतम समाधि को वह जो प्राप्त कर सका, उसका कारण उसकी आत्मा का अपूर्व शौर्य ही था।

वीर पुरुष वीरता से स्वीकारते हैं, वीरता से पालते हैं।

वीर पुरुष जिस बात को एक बार अंगीकार कर लेते हैं अथवा जो शुभ संकल्प बना लेते हैं, उस पर वे वीरतापूर्वक डट जाते हैं। फिर वे उन बातों या संकल्प की समस्त मर्यादाओं की प्राणपण से रक्षा करते हैं। उस तरुण शिष्य ने जैसे भी हो एक बार साधु का बाना अंगीकार कर लिया तो उसका ऐसा सुन्दर निर्वाह किया कि अपने जीवन का चरम लक्ष्य ही साध लिया। वीर पुरुष जिस व्रत को वीरता से स्वीकारते हैं, उसका वीरतापूर्वक पालन भी करते हैं।

धर्म क्षेत्र में वीर-प्रदर्शन की दृष्टि से शास्त्रों में चार प्रकार के साधु बताये गये हैं। पहली श्रेणी उन साधुओं की कही गई है जो सिंह की तरह साधु जीवन स्वीकार करते हैं और सिंह की तरह ही तेजस्विता से उसका पालन करते हैं। दूसरी श्रेणी के साधु उसे धारण तो सिंह की तरह करते हैं, लेकिन पालन करने में सियार की तरह हो जाते हैं, स्वीकार करके उसमें पूरा मन [illegible] कायर हो जाते हैं। तीसरी श्रेणी उन साधुओं

की होती है जो कायर भाव से साधु–धर्म स्वीकार करते हैं, लेकिन पालन करते समय उनमे सिंह जैसी शूरवीरता पैदा हो जाती है। और अन्तिम श्रेणी तो अगीकार करने मे भी कायर और पालन करने मे भी कायर लोगो की होती है। यह चतुर्भंगी है। इसमे विशेषता तीसरी श्रेणी की है जो कायर की तरह साधु–व्रत ग्रहण करके भी सिंह की तरह उसका पालन करते है। वह तरुण शिष्य इसी तीसरी श्रेणी मे आता है।

हमारे यहा कहा गया है कि–'जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा'। सभी स्थानो पर शौर्य का मूल्य आंका जाता है और इस शौर्य का धर्म–क्षेत्र मे तो अत्यधिक महत्त्व है। विनय और धर्म की आराधना गृहस्थ धर्म मे भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, बल्कि शूरतापूर्वक यह आराधना की जाय तो जीवन क्रम मे आश्चर्यजनक परिवर्तन लाया जा सकता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण राजा प्रदेशी का है।

केशी श्रमण द्वारा धर्म का प्रतिबोध और प्रदेशी राजा का शौर्य प्रदर्शन

प्रदेशी राजा ने गृहस्थ धर्म को अंगीकार किया और उसका शौर्यपूर्वक पालन भी किया, लेकिन जब तक वह सन्त समागम मे नही पहुचा और उसने गृहस्थ धर्म को अगीकार नही किया, तब तक वह पूर्णतया नास्तिक था। हिंसक इतना कि हाथ खून से लथपथ रहते थे। उसका विचार था कि आत्मा नाम का कोई तत्त्व नही है। उसने बहुतेरे प्रयोग किये, लेकिन वे सभी प्रयोग भौतिक थे, आध्यात्मिक नही। केशी श्रमण के एक ही आध्यात्मिक प्रयोग मे प्रदेशी राजा का जीवन ही बदल गया—वह नास्तिक से आस्तिक बन गया।

एक बार नये घोडो की चाल देखने के लिये प्रदेशी राजा और दीवान दूर तक गये। लौटते समय विश्राम करने को वे एक बगीचे के पास रुके। घोडो से उतर कर वे बगीचे मे गये। वे एक वृक्ष की शीतल छाया का आनद ले रहे थे कि राजा की नजर एक महात्मा पर पडी जो उपस्थित श्रोताओ को उपदेश दे रहे थे। राजा के मन मे महात्मा के प्रति एक उपेक्षा सी जागी। उसके मन मे आया कि यह कौन जड मूढ बोल रहा है तथा कौन जड मूढ उसे सुन रहे है ? फिर भी उन्होने दीवान से सहजतापूर्वक पूछा—यह उपदेश देने वाले कौन है ? दीवान ने कहा—राजन्, ये केशी श्रमण महात्मा है। ये आत्मा के अस्तित्व को मानते हुए आत्मसाधना कर रहे हैं तथा इस साधना के बल पर जो तत्त्व निष्कर्ष इन्होने निकाला है, उसे ही वे इस समय श्रोताओ को सुना रहे हैं।

राजा ने आश्चर्य से पूछा—क्या ये मुझे आत्मा का स्वरूप समझा सकेंगे? तुम तो जानते हो कि ऐसा न कर सकने के कारण मैंने कइयों को जेल में डाल दिया या कइयों को मौत के घाट उतार दिया है। दीवान ने कहा—नहीं राजन्, ये महात्मा विलक्षण हैं। तब राजा दीवान के साथ उस दिशा में आगे बढ़ा, जिधर केशी श्रमण उपदेश दे रहे थे। धर्मसभा के एक किनारे पर जाकर राजा खड़े हो गये तो महात्मा ने राजा को नाम से सम्बोधित किया, कौन? प्रदेशी राजा हो! राजा को एक बार अचम्भा हुआ कि महात्मा को उसके नाम का ज्ञान कैसे हुआ? फिर सोचा—वह तो सुप्रसिद्ध है सो महात्मा भी जानते होंगे।

तभी महात्मा ने कहा—राजन्, उस वृक्ष के नीचे विश्राम करते हुए तुमने दीवान जी से कहा कि यह उपदेश देने वाला जड़ मूढ़ कौन है? क्या यह सही है? अब तो राजा अवाक् रह गया। महात्मा तो मन की बात जानते हैं। मेरी कोई भी इन्द्रिय या कोई भी शक्ति ऐसा करने में अक्षम है और इन महात्मा की शक्ति ऐसी अपूर्व है कि ये मेरे मन की कल्पनाओं को भी जान गये। जैसा दीवानजी ने कहा था—यह इनकी आत्मशक्ति ही हो सकती है। इस एक ही बात से राजा नास्तिक से आस्तिक हो गया।

नास्तिक की धाराए : आस्तिकता की अवस्था

कैसे दिखाई दे रहा है ? उसे अपने भीतर आप किस माध्यम से देख रहे हैं ? आपकी कोई इन्द्रिय इसमे सहायक नहीं है, बल्कि आख भी बन्द करके अन्दर देखो तो दुर्ग की सडकें, आपका घर, दूकान, प्रिय जन, तिजोरी आदि सबके सब साफ दिखाई देने लगेगे—सोच सकते हैं कि यह कौनसा माध्यम है ?

ससार मे दिखाई देने वाले सारे तत्त्व पच-भूत तत्त्वो मे बने हुए हैं और शरीर भी वैसा ही है किन्तु उसकी जो शक्ति है वह आत्म-तत्त्व के साथ जुडी हुई होती है । यह जो देशनोक मे बैठे-बैठे दुर्ग के दृश्य भीतर देखने मे दिखाई दे रहे हैं—इस पर गभीरता से विचार करें, तो फिर आत्मतत्त्व के अस्तित्व पर किसी प्रकार की शका शेष नही रह जायगी । किन्तु ऐसी प्रतीति स्पष्ट रूप से साधना के बल पर की जा सकती है । कठिन कार्य कोई करना नही चाहता, आपको तो सस्ता सौदा चाहिये । जैसे यहा से उठकर घर जायेंगे और बिना मागे थाली सामने आ जायगी और जीम लेंगे । इतनी ही आसानी से आप आत्मा को पहिचानना चाहते हैं, जो सभव नही है । लड्डू की तरह आत्मा को निकाल कर हथेली पर रखदें, तब आप उसे पहिचान लें—ऐसा नही होता है । आपमे से कई व्यक्ति कई तरह के अनुभव रखते हैं । एम ए तक पढ़ने वाला एम. ए का अनुभव रखता है, व्यापारी अपने व्यापार का अनुभव रखता है लेकिन क्या आप अपने उस अनुभव को हथेली पर धर कर सबको दिखला सकते है ? आप नही दिखला सकते तो क्या यह मान लिया जा सकता है कि आपको कोई अनुभव ही नही है । आप कहेगे कि कोई माने या नही माने, अनुभव तो मुझे अवश्य है। इसी प्रकार अन्दर ही अनुभव करने का वस्तु-विषय है कि आत्मा है । नास्तिकता की शकाए इसी अन्दर के अनुभव से दूर होती हैं तथा आस्तिकता की अवस्था का निर्माण होता है ।

आत्मतत्त्व का अन्यतम प्रभाव तथा प्रदेशी राजा का जीवन-परिवर्तन

प्रदेशी राजा के जीवन मे केशी श्रमण के उस एक ही वाक्य से परिवर्तन आ जाता है । उसकी नास्तिकता की शंकाए जैसे गायब होने लगती है और अनजाने ही आस्तिकता की आस्था जम जाती है । दोनो के बीच मे काफी लम्बा सवाद हुआ, उसे अभी कहने की स्थिति मे नही हू । लेकिन जब राजा प्रदेशी अपनी नास्तिकता को पूर्णतया समाप्त करके जाने लगा तो केशी श्रमण ने यह कहा—हे राजन्, अब रमणीक बनकर फिर से अरमणीक मत बनना ।

यह राजा के जीवन की अरमणीकता क्या थी ? राजा की नास्तिकता, उसकी क्रूरता, उसकी हिंसा यह सब उसके जीवन की अरमणीकता—असुन्दरता

हो गई थी। [illegible] अब जाने से वह राजा रमणीक हो गया था, इसीलिए यह उपदेश दिया गया कि वह फिर से अरमणीक न बने। बाहर की [illegible] की सुन्दरता आप देखते होंगे और समझते हैं कि अमुक शरीर बहुत सुन्दर है—रमणीक है। ऐसी सुन्दरता कोई अर्थ नहीं रखती है। आत्मा के सौन्दर्य को अपने ज्ञान चक्षुओं से देखने का अभ्यास करें तो ज्ञान होगा कि वह सौन्दर्य कितना प्रकाशक होता है?

प्रदेशी राजा ने उत्तर दिया—भगवन्, अब मैं अरमणीक नहीं बनूंगा। पहले सम्पूर्ण राज्य की आय के तीन विभाग किये जाते थे, अब से चार विभाग करूंगा और चौथा विभाग धर्म के व परोपकार के कार्यों में व्यय किया जायगा। मैं धर्मशालाएं बनाऊंगा, नौकरों को रखूंगा, श्रमण [illegible] के अनुसार भोजन तैयार करवाऊंगा तथा दीन दुःखी लोगों को शान्ति पहुंचाऊंगा। स्वयं व्रतों की आराधना करता हुआ मैं आनन्दपूर्वक विचरण करूंगा।

के बारह व्रतों की आराधना के साथ पौषधों की साधना की । आन्तरिक विनय की साधना की और समाधि प्राप्त की । तब वे समभाव से रमण करने लगे । राजा प्रदेशी के जीवन मे ऐसा रमणीक परिवर्तन आया ।

राजा की धर्मक्षेत्र की शूरवीरता एवं परिवर्तन का क्रम

प्रदेशी राजा ने धर्मक्षेत्र मे प्रवेश करके अपने जीवन परिवर्तन की जो शूरवीरता दिखाई, उस परिवर्तन के क्रम को उन्होने जारी रखा । महारानी भी नास्तिक थी । जब उसने देखा कि राजा बदल गये है और श्रावक बन गये है तो वे अब मेरे क्या काम के ? तब महारानी के मन मे यह दुर्भावना आई कि अब महारानी पद के सुख तो गये, राजमाता के सुख भोगना ही ठीक रहेगा याने कि अपने पति की हत्या की बात उसके दिमाग मे पैदा हुई । उसने अपने पुत्र को बुलाया और उसे अपनी योजना बताई । उसे सुन कर पुत्र ने रोषपूर्वक कहा—माता, यह तुमने क्या सोचा ? मुझे ऐसा राज्य नही चाहिये और न मै दुष्ट नीति से राज्य करना चाहता हू । महारानी असमजस मे पडी कि पुत्र माना नही और कही वह उसकी योजना को प्रकट न करदे । यह सोचकर उसने स्वय ही राजा की हत्या करने का फैसला कर लिया और वह भी जल्दी से जल्दी ।

प्रदेशी राजा के बेले का तप था । वह पौषधशाला मे पहुची और राजा से बोली—आज आपके बेले का पारणा मेरे चौके मे होना चाहिये । प्रदेशी राजा ने सरल भाव से स्वीकृति देदी । तब महारानी ने खाने की सारी सामग्री मे विष मिलवा दिया—यहा तक थाल पर ढकने के वस्त्र को भी विष का पुट दे दिया । उसने विष का असर इतना तेज बनाने की कोशिश की कि कही राजा बच न जाय । राजा पारणा करने आये, पहला कौर लेते ही उन्हे गड़बड की आशका हो गई और वे मन ही मन इसे रानी की करतूत समझ कर वहा से उठ गये । राजा ने विचार किया कि महारानी के स्वार्थ पर चोट पडी है सो वह इतनी क्रूर बन गई, लेकिन मुझे तो कोमल हृदय रखकर समाधि-पूर्वक ही रहना चाहिये ।

राजा सीधे पौषधशाला मे पहुचे और सागारी सथारा धार कर बैठ गये । समय पर दरबार मे राजा नही पहुचे तो चारो ओर भगदड मच गई । महारानी भयभीत हुई कि कही उसका भाडा न फूट जाय । वह भागी–भागी पौषधशाला मे गई और पति का सिर गोद मे लेकर त्रिया–चरित्र करने लगी ।

[illegible] ने उसकी राजा की सांस की नसों दबाकर उन्हें समाप्त करने की कोशिश की। राजा अपने विचार में दृढ़ रहा कि उसे समभाव रखना है। शान्त एवं स्थिर चित्त से उसने इस मृत्यु-कष्ट को सहन किया। जीवन में परिस्थिति के सब तरह निर्वाह करना और आदर्श के ऐसे उच्च स्तर तक पहुंच जाना कोई साधारण स्थिति नहीं होती है। कहां राजा प्रदेशी इतना क्रूर हिंसक था और कहां उसने अपने ही प्रति की जाने वाली हिंसा को चित्त की पूर्ण समाधि एवं निर्वैर भाव से सहन कर ली? जीवन में ऐसा भव्य परिवर्तन धर्म में शौर्य का परिचायक होता है।

धर्मक्षेत्र के शूरवीरों के नाम अमर हो जाते हैं

धर्मक्षेत्र भी एक प्रकार से युद्ध क्षेत्र ही होता है। युद्ध में बाहरी दुश्मनों से लड़ना है तो इस धर्म क्षेत्र में अपनी ही आत्मा के शत्रु रूप कर्मों से लड़ना होता है। लेकिन जहां लड़ाई है, वहां शूरवीरता की जरूरत तो होती ही है। लड़ाई में कायरों का क्या काम? लड़ाई में कायर उतर भी जाय तो वह कलंकित होता है और लड़ाई को भी कलंकित करता है। लड़ाई में तो शूरवीर उतरता है जो शत्रु का जौहर भी दिखाता है और लड़ाई की शान भी बढ़ाता है। इसलिये व्रतों का अंगीकार करो, लेकिन उनके पालन करने में अपनी शूरवीरता दिखाओ, तभी आत्मा का भी उद्धार है और धर्म क्षेत्र की भी शान है।

आज जीवन चरित्र की आवश्यकता के प्रसंग में जिन महापुरुषों का स्मरण किया जाता है, वह इसी कारण कि उन्होंने धर्म क्षेत्र में किसी न किसी रूप में शौर्य दिखाया है। धर्मक्षेत्र के शूरवीरों के नाम अमर हो जाते हैं।



आश्रव तत्त्व क्या है ?

सुज्ञानी जीवा भजलो रे जिन इक्कीसवा.... ·
जीव अजीव बध ये तीनो, ज्ञेय यथारथ जानो ।
पुण्य पाप आश्रव परिहरिये हेय पदारथ मानो ।।

परमात्मा के भजन की विभिन्न विधिया बतलाई जा रही है। परमात्मा का भजन भी है और तत्त्वो का स्वरूप वर्णन भी । इस आत्मा को सम्बोधित करते हुए कवि कहते है कि इस सारे ससार का सचालन नव तत्त्वो द्वारा होता है । इनमे से तीन तत्त्वो को ज्ञेय, तीन तत्त्वो को हेय तथा तीन तत्त्वों को उपादेय कहा है । उपादेय तत्त्व बताये गये हैं—सवर, निर्जरा तथा मोक्ष । पुण्य पाप तथा आश्रव तत्त्वो को हेय कहा गया है । शेप तीन तत्त्व जीव, अजीव तथा बध ज्ञेय है ।

तत्त्वो के ज्ञेय, हेय, उपादेय होने का महत्त्व

नव तत्त्वो के लिये यह जो तीन प्रकार का कथन किया गया है, वह एकान्त रूप नही है । यह नही है कि जिन तत्त्वो को ज्ञेय कहा गया है, उन्हें ही जानों और शेप तत्त्वो को जानों ही नही अथवा ऐसा भी नही है कि जिन तत्त्वो को हेय बता दिया, उन्हे पहले से ही त्याग दो। वस्तुत. इन तीनो

विवेचनों द्वारा इन-इन तत्त्व का मूल स्वरूप तथा अन्तिम परिणति का विश्लेषण किया गया है।

जीव, अजीव तथा बंध तत्त्वों को जानने योग्य तत्त्व कहा है। यह सारा संसार जीव, अजीव-इन दोनों तत्त्वों का ही है। या तो कोरे जड़ पदार्थ हैं जिनका विस्तार अजीव तत्त्व में है अथवा चैतन्य जीव हैं जो अजीव के साथ मिले हुए रूप में दिखाई दे रहे हैं। जीव तथा अजीव तत्त्वों का जो सम्मिश्रण है, वह बंध तत्त्व में शामिल है। बंध तत्त्व की वजह से ही आत्मा के साथ कर्मों का बंध है तथा उसका संसार में भटकाव है। इसलिये इन तीनों तत्त्वों का ज्ञेय कहा गया है, जो संसार में चलने के मूल में रहे हुए हैं।

है, तब तक आश्रव तत्त्व का काम भी जारी रहता है क्योंकि कर्मों के आने का नाम ही आश्रव तत्त्व है । कर्मों का बध तभी सभव होता है जब कर्मों के आने के द्वार हो । किसी भी रास्ते से कोई तत्त्व आता है तो एक स्थान पर उसका बोध हो सकता है । जब कारखाने मे रुई की गाठे बाधी जाती है तो एक स्थान से बच्ची बची गाठों को अन्दर लेते है और फिर यत्रो द्वारा उन्हे दबाकर उन पर पतिया कसी जाती है । गाठो के अन्दर लेने का जो मार्ग या द्वार है, उसी से गाठो को अन्दर ले जाते हैं और उस मार्ग या द्वार पर देखने से ही ज्ञात होता है कि गाठें अन्दर जा रही हैं अथवा नहीं । ऐसी ही प्रक्रिया आश्रव तत्त्व की होती है ।

एक नदी का प्रवाह चल रहा है । उस पर बाध बना लिया जाता है तो वह उस पानी को बाध देने से बना । पानी बध गया—यह बध तत्त्व है । उस बाध मे फिर पानी जिस नदी या अन्य नालो के जरिये आता है, वह आश्रव तत्त्व है । बाध मे रहा हुआ पानी पाप पुण्य कर्म रूप है । जीवन मे चाहे वृत्ति हो अथवा प्रवृत्ति या कर्म बध हो—वह दो प्रकार का होता है - शुभ एव अशुभ । मनुष्य सोचता है वह वृत्ति है तथा करता है उसे प्रवृत्ति कहते है तथा वृत्ति एव प्रवृत्ति के अनुसार ही कर्मों का बध होता है । वृत्ति एव प्रवृत्ति शुभ रहती हैं तो पुण्य कर्म का बध होता है एव वृत्ति प्रवृत्ति अशुभ है तो पाप कर्म का बंध होता है ।

इस प्रकार जीवन मे जो ये दो प्रकार के कर्म आत्मा के साथ सलग्न बनते हैं—ये जिन रास्तों से प्रवेश करते हैं, वे रास्ते आश्रव के कहलाते हैं । कर्मों का बध आत्मा के साथ होता है लेकिन आने के रास्तो को आश्रव कहा है । इस आश्रव तत्त्व के स्वरूप को समझाने के लिये ज्ञानीजन ने विस्तृत विवेचन दिया है ।

आश्रव के मुख्य द्वार है मन तथा पाचो इन्द्रिया। ये साधारण द्वार कहलाते है । इनके द्वारा शुभ कर्म भी आते है तथा अशुभ कर्म भी आते है । ये ही मार्ग है जिनका निरोध कर दिया जाय तो कर्म रुक भी सकते है । इन्ही मार्गों से लगे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा इन्ही मार्गो की सफल साधना बनने पर मोक्ष की अवस्था भी प्राप्त होती है । ये द्वार ऐसे है जिनका सम्बन्ध न्यूनाधिक अशो मे सभी तत्त्वो से जुडा हुआ है ।

आश्रव का केन्द्र-बिन्दु मन तथा मन की सहयोगिनी इन्द्रियां

आश्रव की दृष्टि से शुभ और अशुभ जो दो प्रकार की वृत्तिया है,

है, तब तक आश्रव तत्त्व का काम भी जारी रहता है क्योंकि कर्मों के आने का नाम ही आश्रव तत्त्व है। कर्मों का बध तभी सभव होता है जब कर्मों के आने के द्वार हो। किमी भी रास्ते से कोई तत्त्व आता है तो एक स्थान पर उसका बोध हो सकता है। जब कारखाने की रूई की गाठे बाधी जाती है तो एक स्थान से कच्ची वधी गाठो को अन्दर लेते हैं और फिर यत्रो द्वारा उन्हे दबाकर उन पर पत्तिया कसी जाती है। गाठों के अन्दर लेने का जो मार्ग या द्वार है, उसी से गाठो को अन्दर ले जाते हैं और उस मार्ग या द्वार पर देखने से ही ज्ञात होता है कि गाठे अन्दर जा रही हैं अथवा नही। ऐसी ही प्रक्रिया आश्रव तत्त्व की होती है।

एक नदी का प्रवाह चल रहा है। उस पर बांध बना लिया जाता है तो वह उस पानी को बाध देने से बना। पानी बध गया—यह बध तत्त्व है। उस बाध मे फिर पानी जिस नदी या अन्य नालो के जरिये आता है, वह आश्रव तत्त्व है। बाव मे रहा हुआ पानी पाप पुण्य कर्म रूप है। जीवन मे चाहे वृत्ति हो अथवा प्रवृत्ति या कर्म बध हो—वह दो प्रकार का होता है - शुभ एव अशुभ। मनुष्य सोचता है वह वृत्ति है तथा करता है उसे प्रवृत्ति कहते है तथा वृत्ति एव प्रवृत्ति के अनुसार ही कर्मों का वध होता है। वृत्ति एव प्रवृत्ति शुभ रहती हैं तो पुण्य कर्म का वध होता है एव वृत्ति प्रवृत्ति अशुभ हैं तो पाप कर्म का वध होता है।

इस प्रकार जीवन मे जो ये दो प्रकार के कर्म आत्मा के साथ संलग्न बनते हैं—ये जिन रास्तों से प्रवेश करते हैं, वे रास्ते आश्रव के कहलाते हैं। कर्मों का वध आत्मा के साथ होता है लेकिन आने के रास्तों को आश्रव कहा है। इस आश्रव तत्त्व के स्वरूप को समझाने के लिये ज्ञानीजन ने विस्तृत विवेचन दिया है।

आश्रव के मुख्य द्वार है मन तथा पाचो इन्द्रिया। ये साधारण द्वार कहलाते है। इनके द्वारा शुभ कर्म भी आते है तथा अशुभ कर्म भी आते है। ये ही मार्ग है जिनका निरोध कर दिया जाय तो कर्म रुक भी सकते है। इन्ही मार्गो से लगे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा इन्ही मार्गो की सफल साधना बनने पर मोक्ष की अवस्था भी प्राप्त होती है। ये द्वार ऐसे है जिनका सम्बन्ध न्यूनाधिक अशो मे सभी तत्त्वो से जुडा हुआ है।

आश्रव का केन्द्र-बिन्दु मन तथा मन की सहयोगिनी इन्द्रियां

आश्रव की दृष्टि से शुभ और अशुभ जो दो प्रकार की वृत्तिया है,

जीवन मे विकास का अथवा आत्मा की साधना का यही लक्ष्य है कि मन एव इन्द्रियो की सक्रियता इस आत्मा को मोक्ष की दिशा मे अग्रसर बनावे । पाप कर्म के बध को ज्यादा से ज्यादा रोके तो पुण्य कर्म को इस गति के सहायक के रूप मे उपार्जित करें ।

आश्रव का निरोध तथा कर्मों से मुक्ति पाने का मार्ग

अशुभ वृत्तियो एवं प्रवृत्तियो का त्याग सरल नही होता है और इस कारण आश्रव का निरोध आसान नही है । संसारी आत्मा को अपनी अज्ञान दशा मे अशुभ वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया अधिक प्रिय लगती हैं और वह उनमे रमी रहकर पाप कर्म का बध करती है। इन वृत्तियो एव प्रवृत्तियो का क्रमश त्याग करना होता है । इस त्याग के लिये भी मन तथा इन्द्रियो को साधे, तब काम हो सकता है । यह साधना जितनी पुष्ट बनती जायगी, उसी क्रम से त्याग की उत्कृष्टता भी बढती जायगी । पहले यदि इतना भी त्याग किया जाय कि मैं व्यवहार मे हिंसा नही करूगा, जानबूझकर किसी प्राणी को नही मारूगा एवं अकारण निरपराध प्राणियो का हनन नही करूगा, तब भी हिंसा के त्याग का शुभारभ हो जायगा तथा यत्किंचित् रूप से आश्रव का निरोध हो सकेगा ।

आपको पहले मैंने अनर्थ पाप को रोकने की बात इस कारण बताई है कि अभी आप सार्थक पाप को रोकने की स्थिति मे नही हैं । अनर्थ पाप का त्याग कर लेने पर भी काफी अशो मे आश्रव का निरोध हो जाता है । जैसे आप स्नान करना भी चाहेगे तो अनर्थ पाप का त्याग कर लेने पर घडो पानी की बरबादी नही करेंगे बल्कि कम से कम आवश्यक पानी से काम चला लेंगे । घडो पानी के नष्ट करने पर जो रोक लगी, उससे अनर्थ पाप रुक गया। दिनचर्या मे पग-पग पर आपके सामने ऐसे उदाहरण आते हैं कि जिनमे अनर्थ पाप को रोकने की चेष्टा रखी जावे तो काफी अशो मे कर्मबध को रोका जा सकता है । इस तरह अनावश्यक पाप प्रवृत्ति पर भी रोक लगा दी तो उससे आश्रव का निरोध होगा तथा इस निरोध से सवर होगा ।

सवर आत्मा का निज गुण है । यथासाध्य पाप प्रवृत्तियो के निरोध से पाप कर्म का वध रुकता है तो उतने अशो मे आत्मा का कर्म मैल से आच्छादित होना रुकता है । जितना सवर तत्त्व का विकास होगा, आत्मा का स्वरूप उज्ज्वल बनेगा । अनर्थ पाप को रोकते-रोकते फिर मन तथा इन्द्रियो की गति इतनी सध जायगी कि सार्थक पाप को भी कम करते जाने की प्रवृत्ति का विकास होने लगेगा । सवर से आने वाले कर्मो पर रोक लगेगी तो सार्थक पाप के

परित्याग से निर्जरा का क्रम भी बनेगा । मन एव इन्द्रिया ज्यो-ज्यो आत्म-साधना मे निरत बनेगी, त्यो-त्यो कर्मो से मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त बनता जायगा और जब कर्मो का परिपूर्ण क्षय हो जायगा, आत्मा परमात्म-स्वरूप का वरण कर लेगी ।

संवर तत्त्व का मार्ग सम्यक्त्व का मार्ग होता है

आश्रव निरोध का जो सवर तत्त्व का मार्ग है, उसे समझने की आवश्यकता है । आश्रव तत्त्व सक्रिय रहता है वह मिथ्यात्व के कारण, क्योकि मिथ्या वृत्तिया तथा प्रवृत्तिया आत्मा को मलिन बनाती हैं और पाप कर्मबंध बेरोकटोक होता रहता ह । किन्तु सवर तत्त्व का मार्ग तभी साफ होता है जब मिथ्यात्व को रोका जाय एव अपने अन्दर सम्यक्त्व का विकास किया जाय ।

शुद्ध सम्यक्त्व की स्थिति का निर्वाह आन्तरिक दृढता के आधार पर ही सफलतापूर्वक किया जा सकता है । जीवन मे जब तक अनुकूलता हो, तब तक तो सही श्रद्धा बनी रह सकती है लेकिन सम्यक्त्व के निर्वाह की परीक्षा वहा होती है जब प्रतिकूल परिस्थितिया सामने हो, फिर भी सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म के प्रति अगाध श्रद्धा बनी रहे । आप अपने जीवन मे अनुभव करते होगे कि यह श्रद्धा कई बार तो छोटी मोटी आपदाओ अथवा भ्रान्तियो से ही लड-खडा जाती है । ऐसी श्रद्धा कच्ची मानी जायगी और ऐसा सम्यक्त्व सदैव शुद्धता के आधार पर टिका हुआ नही रह सकेगा । जरा सा विपरीत वाता-वरण आते ही श्रद्धा तिलमिला जाय तो यह समझना चाहिये कि सम्यक्त्व पुष्ट पृष्ठभूमि पर आरूढ नही हुआ है ।

इस सम्बन्ध मे एक रूपक याद आ गया है । एक स्थल पर सन्त गाव की ओर आ रहे थे । गाव के बहुतेरे लोग स्वागत-सत्कार हेतु सन्तो के सामने आ रहे थे । सन्त तब तक गाव के निकट नही पहुचे थे तो भक्तो ने उधर से आते एक ग्रामीण भाई से पूछा—हमारे महाराज उधर से आ रहे हैं, क्या तुमने उन्हे देखा ? ग्रामीण ने कहा—हा, वे नदी मे पानी पी रहे थे । ये शब्द सुनकर भक्तो के पैर वही रुक गये । सबने इस बात पर अश्रद्धा पैदा करली और अपने घरो को वापिस लौट गये । सन्त आये और धर्मस्थान का पता लगाकर वहा ठहर गये । एकाध भक्त दिखाई दिया तो सन्तो ने पूछा कि पिछली बार तो यहा काफी भक्त एकत्रित हुए थे, इस बार वे सब कहा चले गये है ? उसने सन्तो को सबकी अश्रद्धा का कारण बता दिया । सन्तो को बडा विचार हुआ और सोचा कि इसका निष्कर्ष तो निकालना चाहिये ।

यह सोचकर उन्होंने उस ग्रामीण भाई से पूछा जिसने सन्तो द्वारा नदी मे पानी पीने की बात बताई थी कि क्या उसने स्वय ने सन्तो को नदी मे पानी पीते देखा था ? वह इन्कार हो गया और बोला—मुझे तो अमुक पटेल ने कहा था। उस पटेल से पूछा तो उसने कहा—हा, मैंने देखा था। पटेल को कहा गया कि जब नदी बिल्कुल सूखी है—पानी कही भी नही है तो उनने सन्तो को नदी का पानी पीते कैसे देख लिया ? तब पटेल ने कहा—मैंने नदी का पानी पीने की बात थोडे ही कही थी, सन्त तो अपने पात्र मे से पानी पी रहे थे।

जब बात का इतना स्पष्टीकरण हुआ और उसका ज्ञान सब भक्तो तक पहुचा तो सभी अफसोस करने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रद्धा के प्रश्न पर गहरी छानबीन करनी चाहिये और इस तरह उतावलेपन मे अश्रद्धा एव मिथ्यात्व की तरफ नही बढ जाना चाहिये।

सम्यक्त्व का भाव जितना मजबूत बनेगा, उतना ही सवर का कर्म निरोध आसान हो जायगा। सवर का अर्थ है आश्रव निरोध और आश्रव निरोध कर्मबध को रोक कर आत्मा को हल्की बनाता है तथा उसे कर्मो से समग्र मुक्ति की ओर आगे बढाता है।

मोक्ष तत्त्व की प्रतिष्ठा सुदृढ़ सम्यक्त्व के धरातल पर

श्रद्धा जब तक मजबूत नही बनती है, तब तक मनुष्य भ्रान्तियो के वशीभूत होकर डगमगा जाता है। सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म के प्रति परीक्षा बुद्धि के साथ सच्ची श्रद्धा होनी चाहिये और ऐसी सुदृढ श्रद्धा होनी चाहिये कि वह किसी भी कीमत पर डिगे नही। शुद्ध श्रद्धा ही सम्यक्त्व का आधार होती है और शुद्ध श्रद्धा की विद्यमानता मे मिथ्यात्व का प्रवेश सभव नही रहता है। एक बार मिथ्यात्व को हटा दिया जाय तो फिर आत्म-विकास का क्रम कठिनता से ही टूटता है, क्योकि मोक्ष तत्त्व की प्रतिष्ठा ही सुदृढ सम्यक्त्व के धरातल पर स्थापित होती है।

सम्यक्त्व के परिपुष्ट धरातल पर ही आत्मा मे व्रत ग्रहण की निष्ठा उत्पन्न होती है और व्रतो मे भी वह श्रावक व्रत से लेकर साधु व्रतो की उच्चता तक पहुंचती है। यही उच्चता ऊपर चढती हुई मोक्ष प्राप्ति तक मे प्रतिफलित होती है। साधना के क्रम मे भी सम्यक्त्व की सदा सुदृढता आवश्यक है क्योकि उच्च साधना की अवस्था मे भी यदि सम्यक्त्व डगमगा जाय तो साधी हुई साधना भी नष्ट भ्रष्ट हो जाती है और आत्मा मिथ्यात्व के अधकार मे डूब जाती है।

सम्यक्त्व मे इस दृष्टि से आत्मा की सुदृढ आस्था बनी रहे—इसके लिये मन एव इन्द्रियो का निग्रह ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। आश्रव के ये द्वार जब तक अशुभ वृत्तियो के अधीन रहेगे तथा अशुभ कर्मों के लिये खुले रहेगे तब तक आत्म-विकास का माग अवरुद्ध ही बना रहेगा। ये द्वार आत्मानुगामी वनने चाहिये जिससे आश्रव का निरोध हो, सवर कार्यशील बने, निर्जरा सफलतापूर्वक हो तथा मोक्ष की दिशा के बादल छट जाय।

सम्यक्त्व के प्रति सुदृढ़ता के साथ प्रगतिशील बनें!

आश्रव तत्त्व के स्वरूप को समझ कर पाप कर्मों के आगमन को रोकें, सहायक पुण्य कर्म का उपार्जन करे तथा मिथ्यात्व के गड्ढे मे से बाहर निकल कर आ जावे। इसके लिये मन एव इन्द्रियो को आत्माधीन बनावे तथा सम्यक्त्व के प्रति अपने मन मे अडिग आस्था उत्पन्न करें—ऐसी अडिग आस्था जैसी अरणक श्रावक ने देव द्वारा उपस्थित भयकर कष्टो को सहकर भी सुस्पष्ट रूप से रखी। प्राण भले चले जाय पर सुधर्म आदि के प्रति श्रद्धा नही जानी चाहिये। ऐसी सुदृढ आस्था आत्मा को अवश्य ही सम्पूर्ण कर्मो से मुक्ति दिलाती है।



आत्मा अपने हाथ में लें । आत्मा बाह्य पदार्थों की ममता से अपने को स्वतंत्र बना लेगी तभी इन पर नियत्रण कर सकेगी । यह नियत्रण आत्मा के हाथ मे आ गया तो समझिये आत्मस्थ होने की स्थिति बन गई है । जो आत्मस्थ होना आरंभ कर देता है, उसके लिये समाधि को प्राप्त करने का द्वार भी खुल जाता है । जो आत्मस्थ होता है, उसे ज्ञान का आलोक भी मिलता है तो आचरण की कठोरता भी प्राप्त होती है । आत्मा के स्वरूप का परिमार्जन ही उसका एक मात्र लक्ष्य बन जाता है—कर्म मैल को धोने मे उसका समस्त पुरुषार्थ जुट जाता है । फिर ज्यो-ज्यो मैल साफ होता है उसमे उज्ज्वलता बढती है—हल्कापन आता है और यह अवस्था आत्मा को शान्ति तथा आनन्द देने वाली होती है ।

आत्म-भाव की आराधना से जो समाधि का श्री गणेश होता है, वह समाधि आराधना की कठोरता के साथ निरतर गहरी होती चली जाती है ।

वाणी की महिमा : ज्ञान का अनन्त आलोक

महावीर प्रभु, जिन्होने परम पद को प्राप्त किया, जिनकी वाणी सारे लोक मे व्याप्त हुई, जिनकी चरण रज से अनेक प्राणियो का उद्धार हुआ एव परम समाधि प्राप्त हुई, उनकी वह चरण रज आज भी सारे ससार मे फैली हुई है । यहा चरण रज से चारित्र्य का अर्थ लिया गया है । उनकी वाणी से जिस निर्मल चारित्र्य का उद्भव होता है, वही परम समाधि का दाता है। उनके चारित्र्य की गणना शरीर के प्रत्येक अवयव एव आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे समाधि के परम स्वरूप को भरती हुई ससार के सामने वाणी के रूप मे प्रचलित हो रही हैं ।

ऐसी विलक्षणता के कारण प्रभु की वाणी को सूत्र की सज्ञा दी गई है और यह सूत्र आत्मिक समाधि का एक कारण माना गया है । प्रवचन सार रूप इन सूत्रो को समझ कर इनके आशय के अनुरूप यदि जीवन को ढाल दिया जाय तो वह कार्य इस आत्मा के लिये परम समाधि का होगा । वाणी की ऐसी महिमा है कि इसके द्वारा पहले ज्ञान का अनन्त आलोक उस आत्मा के लिये दृश्यमान हो जाता है । इस प्रकाश मे वह अपनी परम समाधि का मार्ग आसानी से खोज लेती है ।

सूत्र का स्वरूप सदा सक्षिप्त हुआ करता है । इस मे गूढ अर्थ थोडे शब्दो मे भरा हुआ होता है अत बडे अर्थ को सक्षिप्त रूप मे स्वीकार करना चाहिये । सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि उनके अक्षर अति अल्प

हैं, थोडे हैं, किन्तु वे अक्षर इतने अधिक सार युक्त हैं कि उनका सार सारे विश्व में व्याप्त हो रहा है। सूर्य का पिंड छोटा सा दीखता है, लेकिन सूर्य की किरणें कितनी दूर-दूर तक प्रकाश को फैला देती हैं कि दुनिया का कोई भी कोना अंधकारपूर्ण नही रहता है। वे एक ही दिशा को नही, सभी दिशाओं को प्रकाशित कर देती हैं। सूर्य तो फिर भी एक दृष्टि से बडा पिंड है—दूर होने से दृष्टि मे छोटा दिखाई देता है, लेकिन वाणी का सूर्य तो सूत्र रूप मे इतना छोटा है, फिर भी उसका प्रकाश सूर्य के प्रकाश से भी अधिक व्यापक होता है। इससे समग्र विश्व के कल्याण की दिशा दिखाई देती है।

ऐसे सूत्रो के गभीर अर्थ को हृदयंगम करने की आवश्यकता है। यह अर्थ जब आचरण में उतर जाय तो व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के सर्वागीण विकास का मार्ग निष्कटक बन जाय—विश्व शान्ति का अमोघ उपाय उपस्थित हो जाय। इन थोडे अक्षरों मे महान् अर्थ की गहनता भरी हुई है—ज्ञान का अनन्त आलोक फैला हुआ है।

गूढ अर्थ के वाहक अक्षर : समाधि की ओर अग्रसर् आत्मा

शास्त्रकारों ने सूत्र रूप थोडे अक्षरो का वर्णन करते हुए बताया है कि केवल ज्ञान को भी अक्षरो की उपमा दी है याने कि सर्वोच्च ज्ञान भी अक्षरमय कहा गया है। क्षर का अर्थ है खिरना या नष्ट होना तो जो खिरे नही—नष्ट नहीं होवे उसका नाम है अक्षर। ज्ञान की अमरता तो अक्षर मे व्यक्त होती है। ऐसे अक्षर की व्याख्या दो तरह से है—एक तो सूत्र के रूप मे इसकी व्याख्या है और दूसरे अक्षर की केवल ज्ञान के रूप मे व्याख्या है। सूत्र को भी अक्षर कहा है और केवल ज्ञान को भी अक्षर, जिसका तात्पर्य यह है कि ये सदा काल रहने वाले ज्ञान के स्रोत हैं। अक्षर का अर्थ है शाश्वत ज्ञान।

गूढ अर्थ के वाहक एव शाश्वत ज्ञान के भडार ऐसे अक्षरो को जो अपनी आत्मा से पढता है, वह समाधि की ओर अवश्य ही अग्रसर होता है। सूत्रो से द्रव्य अक्षर-रूप ज्ञान प्राप्त करके जब वह केवल ज्ञान के रूप मे विराट् रूप ले लेता है तो वह आत्मा की अनन्त समाधि का कारण बनता है। वह आत्मा स्वय प्रकाशित होती है तथा सारे ससार को प्रकाशित करती है। ज्ञान के प्रारभ से लेकर केवलज्ञान तक पहुचाने वाला यही अक्षर होता है, किन्तु महत्त्वपूर्ण होता है अक्षर का प्रयोग। यह प्रयोगकर्त्ता का कौशल होता है कि गागर मे सागर कैसे भरदे ? प्रयोग का यह कौशल भी उन्हे प्राप्त होता है जो आत्मभाव की गहराइयो मे उतर कर आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश का

दर्शन करते हैं—उस प्रकाश को अपने आत्म–प्रदेशों में भर लेते हैं। तब वह प्रबुद्ध आत्मा स्वय प्रकाशित हो उठती है—दीप्तिमान हो जाती है। वह स्वयं प्रकाशित आत्मा उस सूर्य पिंड के तुल्य बन जाती है जिसकी किरणे जहा भी पडती हैं, अधकार को हटाकर कण–कण मे प्रकाश की रेखाएं भर देती हैं। तब वह आत्मा उन अक्षरो के गूढ अर्थ से स्वयं भी प्रकाशित होती है—अनन्त आनन्द का स्वय भी रसास्वादन करती है तथा अपने अपूर्व प्रकाश एवं आनन्द से सम्पूर्ण विश्व को भी आलोकित एवं आनन्दित बनाती है। ऐसी महान् आत्माओ की सूत्र–रूप वाणी इस दृष्टि से गूढ अर्थ की वाहक होती है तथा अन्य भव्य आत्माओ की समाधि का शुभ कारण भी बनती है।

अक्षरों का भव्य प्रयोग : टीकाकारों का विस्तृत विश्लेषण

केवलज्ञान के उच्चतम स्तर पर पहुंच कर जिन परम ज्ञानी आत्माओं के अन्त करण से जो कल्याणक वाणी उद्भूत होती है, उससे बढकर अक्षरो का भव्य प्रयोग दूसरा नही होता है। उस वाणी का एक–एक अक्षर इतने गूढ अर्थों का वाहक होता है कि उस पर टीकाकारों के विस्तृत विश्लेषण हो जाने के बाद भी लगता है, उनके आन्तरिक अर्थ की शोध और अधिक की जानी चाहिये। जैसे समुद्र की गहराई होती है, वैसे ही इन अक्षरों की अर्थ–गूढता होती है। ज्यो–ज्यो समुद्र के जल की गहराई मे एक गोताखोर उतरता जाता है, उसे नई–नई उपलब्धिया दिखाई देती है। उन्हे देखकर जिज्ञासावश वह और अधिक गहराई में उतरता है तो उसे मोतियो की भी प्राप्ति होती है। वैसे ही एक चिन्तक और एक साधक जब आत्म-भाव की आराधना के साथ इन अक्षरो की गूढता के भीतर प्रवेश करता है तो उसे ज्ञान की नित नवीन किरणो का दर्शन होता है। वह ज्यों–ज्यो इन अक्षरो की गहराई मे पैठता जाता है, उसे त्यो–त्यो तत्त्व–मुक्ताओं की उपलब्धि होती जाती है। इन अक्षरो का तत्त्वान्वेषण ही एक दिन जिज्ञासु आत्मा को केवलज्ञान के उच्चतम स्तर तक भी पहुचा देता है।

सूत्र रूप अक्षरो का भव्य प्रयोग आचार्य श्री उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र मे देखने को मिलता है, जिसके एक–एक सूत्र मे आत्म-ज्ञान की निधिया भरी हुई हो—ऐसा लगता है। एक–एक सूत्र पर टीकाकारो ने विस्तृत टिप्पणिया लिखी है, फिर भी उन टीकाओ मे पूर्ण अर्थ का प्रकटीकरण हो गया हो—ऐसी बात नही है। तत्त्व चिन्तक ज्यो–ज्यो उन सूत्रो पर गहन चिन्तन करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूत्र का इस रूप मे और अधिक विश्लेषण किया जा सकता है।

महावीर-वाणी ऐसे भव्य अक्षर प्रयोग की ऐसी निधि है, जिस पर चिन्तक चिन्तन करते जायेंगे तब तक ज्ञान की नई-नई किरणे फूटती जायगी। इन अक्षरो की स्थिति मे प्रकाश देने की जो कला है, उसी कला को दार्शनिक अपने-अपने ज्ञान की परिधि के अनुसार अभिव्यक्त करते है, लेकिन यह चिन्तक की आत्मिक क्षमता पर आधारित है कि वह उस कला की कितनी और किस रूप मे अभिव्यक्ति कर पाता है ?

भव्य आत्माओ का चिन्तन : अक्षरो का विराट् स्वरूप

द्रव्य रूप से तो अक्षर-अक्षर हैं—उन्हे जिस स्थल पर जितने आकार मे लिख देंगे, उनका वैसा स्वरूप दिखाई देगा, किन्तु उनका भाव रूप से व्यापक एव विराट् स्वरूप उन्ही भव्य आत्माओ के अपने चिन्तन मे प्रकट होता है, जो उन अक्षरो के मर्म मे प्रवेश करती हैं। फिर जिस आत्मा की जैसी चिन्तन की क्षमता होती है, उसी के अनुरूप उन अक्षरो की विराटता का दर्शन उस आत्मा का होता है।

किन्तु अन्धकार मे भटकते हुए एक पुरुष को कही प्रकाश की क्षीण रेखा भी दिखाई पड जाय और जिस रूप मे फिर वह उस प्रकाश को पाने के लिये लालायित हो उठता है वैसे ही एक जिज्ञासु आत्मा ज्ञान की एक परत से दूसरी परत उघाडती हुई गहराई मे प्रवेश करती रहती है। उसके अन्धकार के पट टूटते रहते हैं और ज्ञान का नया आलोक भरता रहता है। तब वह ज्ञान की एक क्षीण रेखा के बल पर अपनी साधना के फलस्वरूप सम्पूर्ण ज्ञानालोक मे स्थित हो जाती है। अक्षरों का विराट् स्वरूप तब उसके समक्ष साक्षात् उभर आता है—वही केवलज्ञान की स्थिति होती है। वास्तव मे उपदेश देने की क्षमता का यहीं स्तर माना गया है। केवलज्ञानी होकर तीर्थंकर चार तीर्थों की स्थापना करते है तथा उन्हे व समग्र विश्व को अपनी सारपूर्ण वाणी से आल्हादित बनाते हैं।

तीर्थंकर वाणी आत्मिक उच्चता एव उत्कृष्टता की गहराइयो से निकली हुई परम पावन वाणी होती है, जो सूत्र रूप होती है लेकिन गूढ अर्थ भरी होती है। आत्मा की अनन्त गूढता इस वाणी का शृ गार होती है। ऐसा अक्षरो का विराट् स्वरूप भव्य आत्माओ के चिन्तन से प्रकट होता है तो यही विराट् स्वरूप उनकी पावन वाणी मे ढलकर ससार के समस्त प्राणियो को उनके कल्याण का मार्ग भी दिखाता है एव प्रबुद्ध आत्माओ की अनन्त समाधि का प्रदाता भी होता है। जितनी गहरी पैठ, उतनी अधिक समाधि—चिन्तन का ऐसा ही अद्भुत आत्मिक आनन्द होता है जो अनुभव से ही जाना जा सकता है।

अनश्वर अक्षर : चिन्तन धारा का आनन्द

अक्षर का अर्थ ही अनश्वरता है इसीलिये अक्षर को ज्ञान की अमे· रता का प्रतीक कहा गया है । दिव्य वाणी का एक–एक सूत्र ज्ञान की एक-एक ऐसी मणि है, जिसके उज्ज्वल प्रकाश मे कल्याण का मार्ग स्पष्ट दिखाई देता है । इन अनश्वर अक्षरो की चिन्तन धारा मे एकाकार होकर बहना तो सीखिये, फिर देखिये कि उसका कैसा आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता है ?

क्या आप ऐसे आत्मिक आनन्द के अभिलापी नही है ? यदि हैं तो अपने मन को टटोल कर परखिये कि आप आत्म-भाव से प्रतिदिन कितने ऐसे अक्षर पढते हैं और उस पर कितनी गहराई से चिन्तन करते है ? मैं अक्सर स्वाध्याय के बारे मे कहता रहता हूँ और आज फिर सकेत देना चाहता हू कि स्वाध्याय की प्रवृत्ति घर–घर और गाव–गांव मे फैलनी चाहिये तथा अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या का प्रारभ ही स्वाध्याय से होना चाहिये। कुछ भी समय दे, लेकिन स्वाध्याय को दैनिक जीवन मे समय मिलना ही चाहिये । गू गा जब गुड़ खाता है तो उसका स्वाद वही जानता है, वैसे ही चिन्तन का सच्चा आनन्द चिन्तक ही अनुभव करता है । यह वर्णन का नही, स्वानुभव का विषय होता है।

अत चिन्तन का स्वभाव बनाइये तथा महावीर वाणी के अक्षरो का चिन्तन करते हुए अपने जीवन को उन्नतिशील बनाइये तथा निजात्मा मे समाधि की स्थिति पैदा कीजिये । ज्ञान के प्रकाश से आत्मा महान् बनती है ।

